सत्यमेव जयते नानृतम्

भूरसुन्दरी विवेक विलास

श्री जैन श्वेताम्बर सम्प्रदायस्थ श्री बाईस टोला के
श्री १००८ श्री नाथूरामजी महाराज के सम्प्रदाय की
आर्याजी श्री १००८ श्री चम्पाजी महाराज
की शिष्या सती शिरोमणि श्री १००८ आर्या
भूर सुन्दरी जी महाराज ने
मानव जीवन के यथार्थ लक्ष्य उद्देश्य तथा
सफलता के मार्ग व उपाय का
दिग्दर्शन कर लोकहित के लिये
निर्मित किया।

जिस को

जगद्दयाल शर्मा शास्त्री
(भूतपूर्व संस्कृत प्रधानाध्यापक श्री ... कालेज बीकानेर)
ने ग्रन्थकर्त्री महोदया के संक्षिप्त जीवन चरित्र की
योजना पर संशोधन किया।

प्रथमवार 1000 प्रति | वीर संवत् २४६३ संवत् १९९४ विक्रमाब्द | न्यौछावर सदुपयोग

यतो धर्मस्ततो जय

वक्तव्य

वाचकवृन्द !

परम सौभाग्य का विषय है कि सन्त , विषय त्यागी बाल ब्रह्मचारिणी त्यागमूर्ति श्री १००८ श्री भूरिसुन्दरी जी महोदया ने इस पुस्तक की रचना कर के श्री जैन समाज का असीम उपकार किया है वह अकथनीय है । पुस्तक चार परिच्छेदों में विभक्त की गई है जिसमें प्रथम तीन परिच्छेद जैन व जैनेतर सर्व साधारण के लिये अत्यन्त उपयोगी और शिक्षाप्रद हैं जिस से इस जागृति के समय में जनता पर अच्छा प्रभाव पड़ने की आशा होती है । चौथे परिच्छेद में श्रीमती जी ने स्थानिक वासी जैन सम्प्रदाय की पुष्टि की है वह विद्वानों को निष्पक्ष विचारणीय है स्थानिकवासी श्वेताम्बर सम्प्रदाय की ऐसे सर्वोपयोगी पुस्तक के प्रकाशित करने की विशेष अभिलाषा थी इस न्यूनता की पूर्ति श्रीमती जी ने इस वर्ष भरतपुर में चातुर्मास करते हुए की है और जैन भ्राताओं का स्वधर्म में ध्यानाकर्षण किया है कि जिससे धर्म की प्रभावना हुई है इसी चातुर्मास में श्रीमती जी की शिष्याओं में से श्री १००५ श्री वृद्धि जी, श्री जैन मती जी तथा श्री सरस्वती जी ने क्रमश: ३२ दिन २१ दिन तथा १५ दिन की कठिन तपस्या करते हुए आत्मिक बल का परिचय दिया था निदान इस उपलक्ष्य में व्रत के पालने के महोत्सव के दिवस ता० २० अगस्त १९२६ ई० को श्रीमन्महाराजाधिराज श्रीधर्मपरायण श्री सवाई ब्रजेन्द्र भरतपुर नरेश के विशेष आदेश से भरतपुर राज्य भर में पशुवध तथा मृगया (शिकार) का निषेध रहा था ।

जिन निम्नलिखित महानुभावों ने इस सर्वोपयोगी कार्य में विशेष तथा यत्किंचित सहयोग प्रदान कर के अपने उदार भावों का परिचय देते हुए आर्थिक सहायता दी है उनके सहर्ष धन्यवादपूर्वक नामोल्लेख किये जाते हैं।

श्रीयुत धन्ना जीतसिंह जी सहा
" कुन्दनलाल जी गीजगढ़
भरतपुरस्थ एक जैन महानुभाव गुप्तदान

शेष सहायक महानुभावों को धन्यवाद दिया जाता है।

कार्तिक शुक्ला १ वीर संवत् २४५३
विक्रमीय संवत् १९८३ } मिट्ठनलाल कोठारी (पल्लीवाल जैन)
पाईबाग़, भरतपुर।

❀ श्री ❀

विषय-सूची

❀ श्री ❀

(संशोधक की ओर से)

नन्द का विषय है कि–आज मुझे परम धीरा, सद्गुणालङ्कृता, परमवदान्या, साधु धर्म-निष्णाता, विद्वद्वर्या, सती शिरोमणि, श्री १००८ श्री आर्या जी श्री भूरसुन्दरी जी महाराज के "भूर-सुन्दरी विवेक विलास" नामक ग्रन्थ के संशोधन का शुभावसर प्राप्त हुआ है। ग्रन्थ क्या है, सचमुच ही यथा नाम तथा गुण है अर्थात् अत्यन्त ही सौन्दर्ययुक्त विवेक (विज्ञान) के आनन्द का कोष ही है, इसके आनन्द का अनुभव पाठकों को उक्त कोषागार में प्रवेश करने से ही अर्थात् ग्रन्थ के अवलोकन से ही हो सकता है।

ग्रन्थ में चार परिच्छेद हैं—उनमें से प्रथम परिच्छेद में—"मानव जीवन और उसका लक्ष्य" "शारीरिक परिस्थिति" "कर्त्तव्या-कर्त्तव्य" "धर्माधर्म विवेचन" तथा "नवपदार्थ स्वरूप" इन पांच विषयों का वर्णन किया गया है। इनमें से प्रथम चार विषय जैन व जैनेतर सर्व साधारण के लिये अत्यन्त उपयोगी और शिक्षाप्रद हैं तथा पाँचवा विषय जैनमात्रोपयोगी है। उक्त पाँचों विषयों का अवलोकन कर मुक्त कण्ठ से कहना पड़ता है कि पूर्वोक्त पाँचों विषयों का प्रतिपादन गम्भीर विचार तथा दूरदर्शिता के साथ किया गया है।

दूसरे परिच्छेद में—"कुमार शिक्षण" "ब्रह्मचर्य" "योग्य विवाह" "उचित व्यय व अपव्यय त्याग" तथा "गार्हस्थ धर्म" इन विषयों का वर्णन किया गया है। इस परिच्छेद के ये पाँचों ही विषय जैन वा जैनेतर सर्व साधारण के लिये अत्यन्त उपयोगी हैं। यद्यपि इन विषयों का प्रतिपादन अति संक्षेप में किया गया है तथापि जो कुछ वर्णन किया गया है वह बहुत ही लाभप्रद है। तीसरे परिच्छेद में—"सांसारिक परिस्थिति" "धर्म महत्त्व" "धर्म सेवन-योग्यता" "कर्म विपाक-विवेचन" और "सन्नीति तथा वैराग्य," इन विषयों का वर्णन है। इस परिच्छेद के पाँचों विषयों में से "कर्म विपाक विवेचन" जैन सिद्धान्तानुयायियों के लिये तो उपयोगी है ही किन्तु जैनेतर लोग भी निष्पक्ष भाव से अवलोकन कर उससे बहुत कुछ लाभ उठा सकते हैं, शेष चारों विषय जैन व जैनेतर सर्व साधारण जनों के लिये अत्यन्त ही उपयोगी कहे जा सकते हैं।

चौथे परिच्छेद में "साधु धर्म" "मोक्षस्वरूप" "मोक्षमार्ग की प्राप्ति का उपाय" "श्री नवकार मंत्र" तथा "परिशिष्ट भाग" इन विषयों का वर्णन है। इनमें से प्रथम विषय (साधुधर्म) का विवेचन जैन शास्त्रानुसार प्रमाणपूर्वक किया गया है अर्थात् जैनशास्त्रोक्त साधु के क्षमा आदि दश प्रकार के धर्म का विवेचन संक्षेप में किया गया है। सत्य पूँछो तो जैन साधु को क्या किन्तु प्रत्येक साधु को उक्त क्षान्ति आदि दश प्रकार के धर्म का पालन करना चाहिये, क्योंकि जिसमें ये दश प्रकार के साधु धर्म विद्यमान नहीं हैं वह वास्तव में साधु ही कहलाने के योग्य नहीं हो सकता है।

इस विषय का वर्णन करते समय श्रीमती ग्रन्थकर्त्री जी महोदया ने संवेगी, तेरह पन्थी तथा दिगम्बर मन्तव्य की ओर भी दृष्टिपात कर अनेक युक्तियों तथा प्रमाणों के द्वारा उनके मन्तव्य का परिहार कर अपने सम्मत विषय की पुष्टि की है। इस विषय में अपनी

सम्मति कुछ भी नहीं दी जा सकती है और न कुछ टिप्पणी वा समालोचना करने की ही आवश्यकता प्रतीत होती है, क्योंकि मन्तव्य पस एक भिन्न विषय है, इस विषय में अपनी सम्मति प्रदान करना वा कुछ टिप्पणी एव समालोचना करना संशोधक के कार्य से बाहरी विषय है, क्योंकि संशोधक का कार्य ग्रन्थ का संशोधन करना अर्थात् शब्द शुद्धिपूर्वक पद और वाक्य की यथोचित योजना करना मात्र है। इसके अतिरिक्त किसी के मन्तव्य विषय से संशोधक का कोई सम्बन्ध नहीं होता है, क्योंकि यह एक आत्मिक विषय है और वर्त्तमान में प्रत्येक मत में यद्वा सम्प्रदाय में अवान्तर मन्तव्य इतने विशेष बढ़ गये हैं कि जिनका कुछ ठिकाना नहीं है और सब ही मतानुयायी "अपनी २ ढपली अपना २ राग" की कहावत को चरितार्थ कर रहे हैं, केवल इतना ही नहीं किन्तु प्रत्येक मन्तव्यानुयायी अपने ही अभिमत शास्त्र शास्त्रों को ईश्वरीय वाक्य मान एव अपने ही पक्ष को शास्त्रसम्मत मान उसी की पुष्टि के लिये सर्वथा प्रयत्न करता है, उससे विरुद्ध विषय को वह ब्रह्मा के कहने पर भी मानने को तैयार नहीं हो सकता है, ऐसी दशा में खण्डन मण्डन का करना एव उस पर समालोचना आदि का करना नितान्त निष्प्रयोजन प्रतीत होता है। इस प्रसग में इतना कह देना और भी आवश्यक है कि ग्रन्थ के संशोधन-समय में इस ग्रन्थ की रचना के वृत्त को ज्ञात कर अनेक हमारे भोले भाइयों ने हमसे यह प्रश्न किया कि "क्या आपने खण्डन मण्डन सम्बन्धी कोई ग्रन्थ बनाया है" इत्यादि। उनको मौखिक उत्तर तो देही दिया गया है किन्तु उनकी शङ्का की निवृत्ति एव सन्तुष्टि के लिये यहा पर लिखित उत्तर भी दे दिया जाता है-"हे भाइयो! मैंने इस ग्रन्थ को नहीं बनाया है किन्तु इस ग्रन्थ की रचयित्री पूर्वोक्त श्रीमती श्री आर्या जी महोदया हैं, हाँ मैंने इस ग्रन्थ का संशोधन अवश्य किया है जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है। ग्रन्थकर्त्री महोदया के खण्डन मण्डन सम्बन्धी विषय से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि प्रत्येक का मन्तव्य विषय उसके आत्मा से

सम्बन्ध रखता है। इस खण्डन मण्डन सम्बन्धी विषय में यदि किसी को कुछ वातचीत करनी हो वा शास्त्रार्थ करना हो तो श्री आर्या जी महोदया से कर सकते हैं, क्योंकि निज लिखित विषय की वे ही उत्तर-दात्री हैं। संशोधक का कार्य तो केवल ग्रन्थ का संशोधन करना अर्थात् पद-वाक्य-योजना को ठीक करना मात्र है; जो कि अपना परिश्रम द्रव्य लेकर प्रत्येक ग्रन्थ का संशोधन मात्र कर देता है। अतः संशोधक को प्रतिपादित विषय का उत्तरदायित्व नहीं होता है; किन्तु प्रतिपादित विषय का उत्तरदायित्व ग्रन्थकर्त्ता का ही माना जाता है।" अस्तु।

इस परिच्छेद में—"मोक्षस्वरूप" "मोक्षमार्ग की प्राप्ति का उपाय" इन दो विषयों का वर्णन यद्यपि जैनशास्त्रानुसार गम्भीर विचार के साथ किया गया है तथापि उसका मनन करने से जैनेतर जन भी वहुत कुछ शिक्षा प्राप्त कर सकते हैं। श्री नवकार मन्त्र का विषय यद्यपि वहुत ही विशाल तथा गम्भीर है तथापि उसके सम्बन्ध में संक्षेपतया जो कुछ विवेचना की है वह जैनसमाज के लिये आदरणीय है, अन्तिम विषय पर (परिशिष्ट भाग) वड़ी खूवी के साथ लिखा गया है। इस विषय में प्रतिपादित उपयोगी विषयों के सारांश तथा आदर्श शिक्षा का मानो चित्र ही खींच दिया गया है। पूर्वोक्त टिप्पणी के द्वारा पाठकगण समझ सकते हैं कि प्रत्येक परिच्छेद में जिन २ विषयों का उल्लेख तथा विवेचन किया गया है वे सब ही विषय जैन और जैनेतर सब ही मानव जाति के सज्जीवन के लिये कितने उपयोगी और हितकर हैं, ऐसे उपयोगी और प्रशंसनीय विषयों में भी लेख—सरलता, मधुर-पद-योजना, क्रम-सौन्दर्य तथा सरल शब्द प्रयोग आदि गुण—"सोने में सुगन्धि" की कहावत को चरितार्थ करते हैं।

पूर्वोक्त गुणों की ओर ध्यान को लेजा कर यदि इस ग्रन्थ को मानव-जीवन-यात्रा के लिये—आदर्श रूप सत्पथदर्शक, सन्मार्गोपदे-शक यद्वा कर्त्तव्यदर्शक प्रदीप कहा जावे तो भी अत्युक्ति नहीं होगी, क्योंकि शास्त्रीय विषयो के विज्ञान की शक्ति और योग्यता से रहित

केवल भाषा जानने वाले सर्वसाधारणजन भी इसके पठन, मनन और अवलम्ब के द्वारा अपनी जीवन-यात्रा को सफल कर आत्मा का कल्याण कर सकते हैं। हिन्दी साहित्य में इस ग्रन्थ के निर्माण से एक बड़ी भारी न्यूनता की पूर्ति हुई है, क्योंकि इसके अवलोकन से मनुष्य शास्त्रीय विषयों की गूढता, आचार्यमतभेद तथा धर्माधर्म विवेचन की कठिनता, इत्यादि विषयों की उलझन से सहज में पार जा सकता है।

इस प्रसग में मैं अपनी ओर से पाठकों की सेवा में यह भी निवेदन कर देना अत्यावश्यक समझता हू कि ग्रन्थ बनाने वाली पूर्वोक्ता श्री आर्या जी महोदया यद्यपि श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय के बाईस टोला की एक साध्वीजी हैं, अर्थात् श्रीजैन धर्मानुयायिनी हैं तथापि आपने अपने ग्रन्थ में सर्वोपयोगी विषयों का जो कुछ विवेचन किया है वह सर्व सम्मत और सर्व माननीय है अतएव उक्त विषयों के उल्लेख में आपने जैन ग्रन्थों से भिन्न अनेक ग्रन्थों के प्रमाणों का भी निदर्शन कर अन्त में जैन शास्त्र के द्वारा उसकी समानता तथा पुष्टि का भाव प्रदर्शित किया है। तात्पर्य यह है कि एक प्रकार से मतभेद के परिहार के द्वारा आशय की समता कर दिखाई है। इससे स्पष्टतया सिद्ध होता है कि आपके हृदय में पक्षपात को स्थान नहीं मिला है, किञ्च यह मानी हुई बात है कि पक्षपात रहित व्यक्ति का ही वाक्य अन्त करण पर एक विशिष्ट प्रभाव डालता है। भला ऐसी दशा में आपका यह प्रशस्त विषयों से समलङ्कृत ग्रन्थ मानवगण के लिये परम हितकारी क्यों न होगा ? इसके अतिरिक्त यह प्राकृतिक नियम है कि स्वय अपने कर्त्तव्य मे तत्पर पुरुष का वाक्य दूसरों के अन्त करण पर प्रभाव डालने के लिये अमोघ (अव्यर्थ) साधन होता है किन्तु "परोपदेश कुशल बहुतेरे" इस वाक्य का अनुसरण करने वाले जनों का वाक्य दूसरों के हृदय में प्रभाव उत्पन्न करने में अकिञ्चित् कर होता है। ग्रन्थकर्त्री महानुभावा की अपने कर्त्तव्य में निष्ठा आज दिन जैन व जैनेतर समाज में भले प्रकार से प्रख्यात है,

अतएव इस विषय में कुछ लिखना अनावश्यक है, हां यह स्वाभाविक बात है कि ग्रन्थ का अवलोकन कर पाठकजनों को ग्रन्थकर्त्ता के कुछ परिचय प्राप्ति के लिये अवश्य ही उत्कण्ठा होती है; अतएव मैंने इस ग्रन्थ के संशोधन के अतिरिक्त ग्रन्थकर्त्री श्रीआर्याजी महोदया का संक्षिप्त जीवनचरित्र इस ग्रन्थ में अपनी ओर से इसलिये संयोजित कर दिया है कि पाठकजनों को उक्त महानुभावा का कुछ परिचय भी प्राप्त हो सके।

किञ्च—पाठकों को यह भी प्रकट कर देना अवश्य है कि उक्त महोदया का यह जीवन चरित्र मैंने अपनी विज्ञता के अनुसार तथा पूंछ ताछ कर लिखा है, क्योंकि ग्रन्थकर्त्री महोदया ने तो पूछने पर भी अपनी चरित्र-घटना का कुछ भी विवरण प्रकाशित नहीं किया। सत्य है; महानुभाव किये हुये भी अपने कर्त्तव्य का स्वयं कथन नहीं करते हैं, ऐसी दशा में ग्रन्थकर्त्री महोदया से जीवन-चरित्र-लेख में त्रुटि हेतु मुझे क्षमा प्रार्थना की भी कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। हां, उक्त महोदया के चरित्रवेत्ता सज्जनों से मैं यह प्रार्थना अवश्य करूंगा कि इस जीवन चरित्र लेख में जो त्रुटियां हों उनके लिये वे कृपया मुझे क्षमा प्रदान करें।

मैं इस प्रसङ्ग में विद्यानुरागी तथा धर्मनिष्ट उन सज्जनों को अपनी ओर से विशुद्ध भाव से धन्यवाद प्रदान करता हूं कि जिन्होंने इस अमूल्य ग्रन्थ को प्रकाशित करने में आर्थिक सहायता प्रदान कर इसको भेंट रूप में जनता के समक्ष में उपस्थित किया है (उक्त सज्जनों की नामावलि अन्यत्र धन्यवाद-पूर्वक प्रदर्शित की गई है)।

अन्त में मैं प्रिय पाठक वर्ग से निवेदन करना चाहता हूं कि इस ग्रन्थ के संशोधन में जो त्रुटियां रही हो उनकी ओर ध्यान न देकर मुझे अनुगृहीत करें, किम्बहुना विज्ञेषु ॥

निवेदक—**जयदयाल शर्मा,**
(भूतपूर्व संस्कृत प्रधानाध्यापक
श्री डूँगर कालेज) बीकानेर।

——::❀::——

❀ श्री ❀

श्रीमती ग्रन्थकर्त्री महोदया का

संक्षिप्त जीवन चरित्र

ह परम सौभाग्य का विषय है कि—आज मुझे इस "भूरसुन्दरी विवेक विलास" नामक ग्रंथ के संशोधन के समय में ग्रंथकर्त्री महोदया का कुछ जीवन चरित्र लिखने का शुभावसर प्राप्त हुआ है। सौभाग्य का विषय इसलिये है कि जिनके विषय में मैं कुछ लिखना चाहता हूं वे वास्तव में मानव जाति के समस्त सद्-गुणों से अलङ्कृत तथा परम धर्मपरायणा सती शिरोमणि देवी हैं। ऐसी ही व्यक्ति के लिये अपनी विज्ञता के अनुसार कतिपय वाक्य लिखते हुए हृदय में अपूर्व आनंद का सञ्चार होता है, किंच स्वाभाविक नियम भी है कि यथार्थ विषय को कहने के समय मनुष्य के हृदय में एक अपूर्व दैवी शक्ति का संचार होता है और उसी के द्वारा सद्भाव जन्य प्रभाव से उसका अन्त करण विकसित सा हो जाता है—किंच जीवन चरित्र लिखने का उद्देश्य भी यही होता है कि उसे पढ़ कर तथा विद्यमान दशा में चरित्र नायक के चरित्र को देख कर सर्वसाधारण कुछ शिक्षा को प्राप्त कर सकें—यदि यह बात न हो तो जीवन चरित्र के लिखने मे ही क्या लाभ है ?

प्रथम (भूमिका में) लिखा जा चुका है कि "पूछने पर भी ग्रंथकर्त्री महोदया के कुछ न बतलाने पर अपनी विज्ञता के अनुसार तथा पूछ-ताछ कर यह जीवन चरित्र लिखा गया है" ऐसी दशा में पाठकगण समझ सकते हैं कि जीवन चरित्र की पर्याप्तता कैसे हो सकती है ? इसके अतिरिक्त यह भी मानी हुई बात है कि कोई किसी व्यक्ति के

समस्त गुणों का सविस्तर वर्णन भी नहीं कर सकता है, यदि कर सकता है तो केवल इतना ही कि उसके कतिपय प्रसिद्ध गुणों का उल्लेख कर उनकी पुष्टि के लिये कुछ घटनाओं का वर्णन कर दे ।

इस दशा में पाठक जनों से अब इस प्रार्थना की भी आवश्यकता प्रतीत नहीं होती है कि—वे त्रुटि के लिये मुझे क्षमा प्रदान करें क्योंकि किसी भी लेखक के लिये किसी के जीवन चरित्र को पर्याप्त कोटि तक पहुँचा देना कठिन ही नहीं वरन् असम्भव है ।

प्रथम इसके कि मैं ग्रंथकर्त्री महोदया के विषय में कुछ लिखने का प्रारम्भ करूं—यह आवश्यक प्रतीत होता है कि उक्त महोदया की स्वर्गवासिनी श्रीमती गुरुणी जी महानुभावा का भी कुछ परिचय पाठक जनो को दे दूं:—

ग्रन्थकर्त्री महोदय की श्रीमती गुरुणी जी महानुभाव श्री श्री श्री १००८ श्री चम्पाजी महाराज थीं। आप बाईस-टोलाके श्रीयुत परम पूज्य श्री नाथूराम जी [1]महाराज के सम्प्रदाय की आर्यां जी थीं, आप यद्यपि विशेष विदुषी नहीं थीं तथापि आगम विषयक अच्छा बोध था, इस के अतिरिक्त आप परम सुशीला, गाम्भीर्यादि गुणों से सम्पन्ना, सच्चरित्रा, साधुधर्म निष्णाता तथा सती शिरोमणी अर्यां थीं, आप स्वभाव की इतनी विनम्र थी कि जिसका वर्णन नहीं हो सकता है ।

ग्वालियर नगर में विक्रमीय संवत् १८८८ में आपका जन्म अग्रवाल कुल में हुआ था, आपके पिता का नाम श्री लक्ष्मीचन्द जी तथा माता का नाम श्रीमती सतवन्ती देवी थी, आपके मातापिता विशेष वैभव सम्पन्न तथा धर्मपरायण थे, पाँच वर्ष की ही अवस्था में

१—इन महाराज के शिष्य श्रीयुत लक्ष्मीचंद जी महाराज थे, तत्पाटाधिष्ठित श्रीयुत छित्रमलजी महाराज थे तथा तत्पाटाधिष्ठित क्रमशः पूज्य रतनचन्दजी, राजाराम जी, रामलालजी तथा भज्जूलालजी महाराज थे ।

माता पिता के द्वारा विद्याभ्यास का प्रारम्भ कराया गया था आठ वा साढे आठ वर्ष की ही अवस्था में आपने सम्यक्तया विद्याभ्यास के द्वारा अच्छा बोध प्राप्त कर लिया था कि जिसे देखकर माता पिता तथा साथ में पढनेवाली बालिकाओं को बड़ा आश्चर्य होता था, लग भग नौ ही वर्ष की अवस्था में पूर्व शुभ संस्कार के कारण आपके हृदय में इतनी विरक्ति जागृत हुई कि आपने माता पिता से अनुरोध कर विक्रमीय संवत् १८६७ में माघ शुक्ला पञ्चमी को श्रीमती श्री राय कुँवरजी गुरुणी जी महोदया के पास दीक्षा ग्रहण कर संयमपालन का आरम्भ कर दिया, कि जिनके धर्मोपदेश रूप अमृत का पान आप कुछ समय से निरन्तर करती थीं, आपके माता पिता सम्यक्तया धर्मतत्व के वेत्ता तथा आत्मिक कल्याण का मार्ग जानने वाले थे अतः उन्होंने भी प्रसन्नता पूर्वक इस शुभ कार्य के लिये आज्ञा प्रदान करदी थी, नहीं तो भला ऐसे माता पिता कहा सुलभ हैं कि जो अपनी नौ वर्ष की प्राणप्यारी आत्मजा को असिधाराव्रत के समान संयम पालन के लिये आज्ञा दे देवें, वास्तव में सच्चे माता पिता वे ही हैं जो कि बिगाड़ के कारण रूप लाड़ प्यार का परित्याग कर अपनी सन्तति का आत्मिक कल्याण चाहते हैं।

पूर्वोक्त महोदया संयम पालन के साथ में यद्यपि यथाशक्ति विद्याभ्यास भी करती रही थीं तथापि आपका विद्या विषयक बोध अति प्रकर्षभाव को प्राप्त न होसका, इसका कारण यह था कि आपकी तपस्या में बड़ी ही उग्र रुचि थी, पाठकगण विचार कर सकते हैं कि कठिन तपस्या समय भला यथार्थ विद्याभ्यास कैसे निर्वाहित हो सकता है? पूर्वोक्त रुचि के प्रभाव से आपने अपने जीवन काल में अठाहर मास क्षपण किये, दो वार तेंतीस २ व्रत किये तथा दोवार पैंतालीस २ व्रत किये तथा एकवार बावन दिन का उपवास किया, इसके अतिरिक्त एक से लेकर बीस तक छोटी मोटी तपस्यायें तो अनेक वार की कि जिनकी गिनती ही नहीं है, इस व्यवस्था का विचार करने पर यही कहना पड़ता है कि सचमुच आप दिव्यशक्तिधारिणी कोई स्वर्गिया देवी ही मानुषी रूप में थीं।

आपका पुण्य प्रभाव इतना था कि अपका वचन सर्वदा ही अमोघ रूप था-अर्थात् जिससे जो कुछ कह देती थीं अवश्य वही होता था।

पूर्वोक्त सती शिरोमणि महोदया का स्वर्गवास विक्रमीय संवत् १९६३ में आश्विन (आसौज) वदि पञ्चमी शुक्रवार को लग भग ७५ वर्ष की आयु में हुआ था, आपके स्वर्गवास के विषय में एक अपूर्व किंवदन्ती सुनाई देती है—वह यह है कि स्वर्गवास से सात दिन पूर्व अर्थात् भादों सुदि १४ को दश वजे प्रातःकाल दश वारह वर्ष का एक लड़का आपके पास आया और वोला कि-"चम्पाजी महाराज! आपको अगली आसौज वदि पञ्चमी को दिन के ग्यारह वजे चलना है, होशियार हो जाओ" वस इतना कह कर भाग गया, अतः उसी दिन पूर्वोक्त महानुभावा ने आलेवणा निन्दता करके आसौज वदि पड़िवा को संलेखना कर पाँच दिन का संथारा किया तथा पूर्वोक्त वालक के कथन के अनुसार आसौज वदि पञ्चमी को नियमित समय पर आपने इस विनश्वर संसार का परित्याग कर स्वर्गवास को प्राप्त किया, ऐसी महानुभावा दिव्यशक्तिधारिणी देवी को शतशः धन्यवाद है।

पूर्वोक्ता श्री आर्या जी महोदया की ही सुयोग्या शिष्या हमारी ग्रन्थकर्त्री श्रीमती सद्गुणलंकृता, धर्मनिष्णाता, परमविदुषी, सुशील, श्रीश्रीश्री१००८ श्री भूर सुन्दरी जी महाराज आर्या जी महानुभावा हैं।

आपका जन्म मारवाड़ प्रान्त में नागौर के समीप वूसेरी नामक ग्राम में विक्रमीय संवत् १९२४ में पवित्र तिथि माघ शुक्ला सप्तमी को ओसवाल जाति के रांका वंश में हुआ था, आपके पिताका नाम अखयचंद जी तथा मातुः श्री का नाम रामा वाई था, आपके माता पिता आदि गुरुजन विशिष्ट सम्पत्तिशाली तथा अत्यन्त धर्म शील थे, पाँच वर्ष की अवस्था में माता पिता के द्वारा विद्याभ्यास में प्रवृत्ति कराने पर आपको नौ ही वरस की अवस्था में अच्छा वोध प्राप्त हो

गया, लग भग आठ ही वर्ष की अवस्था से आपको धर्मोपदेश श्रवण तथा सत्सङ्ग करने की अभिरुचि इतनी बढ गई कि आप नियमित कार्य्यों से बचे हुए समय को उसी में व्यतीत करने लगीं, धर्मोपदेश के सुनने के लिये आप ऐसी सर्वदा उत्सुक रहती थीं कि कदापि उसकी नागा नहीं करती थीं, उसी के प्रभाव से अल्प अवस्था में ही आपको वैराग्य उत्पन्न होकर सयम पालन का प्रेम इतना बढ गया कि आप अहर्निश उसीकी चिन्ता में निमग्न रहने लगीं, सत्य है-"होनहार विरवान के होत चीकने पात" इस लोकोक्ति के अनुसार मनुष्य के भावी शुभाशुभ लक्षण पहिले ही से चमकने लगते हैं, बस फिर क्या था आपने माता पिता आदि की अनुमति लेकर विक्रमीय सवत् १९३५ में आषाढ सुदि दशमी को लग भग साढे दश वर्ष की अवस्थ में पूर्वोक्त श्रीगुरुणी जी महोदया से दीक्षा ग्रहण कर सयम पालन का प्रारम्भ कर दिया।

सुना जाता है कि आपके इस वैराग्य का कारण यह भी था कि आपकी दीक्षिता सयमधारिणी भूआ का आपके साथ सर्वदा सत्सङ्ग रहता था जो कि बीकानेर निवासी श्रीयुत हीरचन्दजी बच्छावत के पुत्र श्रीयुत गम्भीरमल जी की सहधर्मिणी थीं, जिन्होंने चालीस लाख द्रव्य छोड़कर विक्रमीय सवत् १९१७ में दीक्षाव्रत धारण किया [१]था-तथा जो परम भाग्यवती, सती शिरोमणि, परमविदुषी, आर्याजी थीं, इन्हीं महोदया के सत्सङ्ग से हमारी ग्रन्थकर्त्री महोदया का वैराग्य बहुत ही प्रबल कोटि को पहुँच गया था कि जिसका परिणाम ऊपर लिखा ही जा चुका है।

दीक्षा ग्रहण के समय से लेकर अब तक आपने जितनी मासक्षमणादि तपस्यायें की हैं, उनको सख्या बहुत ही अधिकाधिक सभावित हो सकती है, इस समय आपकी अवस्था ५८ वर्ष की हो

१—सत्य है-मुमुक्षु के लिय आत्म कल्याण के सिवाय और कोई पदार्थ आदरणीय नहीं होता है ।

गई है-तथा पूर्ववर्ती वेदनीय कर्म विपाक से आपके स्वास्थ्य में भी कई वर्षों से अति हीनता हो रही है तथापि तपस्या का कार्य तो आप ऐसी दशा में भी यथाशक्ति प्राय: करती ही रहती हैं। सत्य ही है कि आत्मकल्याणार्थी जन प्राण त्याग की भी अपेक्षा न कर आत्म कल्याण के परम साधन निर्जरा के हेतु भूत तप का परित्याग कैसे कर सकते हैं?

पूर्वोक्ता महानुभावा से मेरा लगभग २४ वर्ष से प्राचीन परिचय है-तथा आपके स्वाध्याय में यथाशक्ति योग देने का भी मुझे कुछ समय तक सौभाग्य प्राप्त हुआ है, इस चिरकालीन अपने अनुभव से मैं कह सकता हूं कि-आप में साधु का जो दश विध धर्म है वह पूर्णतया विद्यमान है, अर्थात् आप यथार्थतया उसका पालन कर "साधु" नाम को चरितार्थ कर रहीं हैं।

तप: कार्य के अतिरिक्त स्वाध्याय में भी आपकी प्रारम्भ से अब तक ऐसी अभिरुचि है कि प्राप्त समय में आप उसका भी उपयोग अवश्य ही करती हैं, आपका व्याकरण, न्याय, वेदान्त, काव्य, कोष, नीति और जैनागम विषयक जैसा बोध है उसके विषय में लिखना अनावश्यक है, क्योंकि उसे परिचित जैन जैनेतर समाज भली भाँति जानता है।

आपके दशविध साधु धर्म पालन का यदि उदाहरण पूर्वक विवेचन किया जावे तो सम्भव है कि एक बड़ा सा पोथा बन जावे, फिर उसके विवेचन की इस समय आवश्यकता ही क्या है जब कि सभ्य समाज उसका प्रत्यक्ष ही दर्शन कर रहा है, हाथ कंगन के लिये आरसी की क्या आवश्यकता है? ऐसी दशा में इस विषय में कुछ लिखकर लेखनी को परिश्रम देना नितान्त अनावश्यक है।

श्रीसर्वज्ञ प्रभु से हमारी वारंवार प्रार्थना है कि-उक्त महानुभावा (जो कि "साधु" नाम को यथार्थतया चरितार्थ कर रही हैं) चिरायुष्का तथा सर्व सौख्यशालिनी हों कि जिससे जन समाज का और विशेषत:

जैन समाज का चिर समय तक आपके द्वारा इसी प्रकार से उपकार होता रहे-अर्थात् जन समाज आपके धर्मोपदेश और सत्सङ्ग रूप साधन को प्राप्त करता हुआ आत्म कल्याण के मार्ग को प्राप्त करता रहे।

अन्त में पाठक वर्ग से मेरे लिये यह निवेदन कर देना आवश्यक है कि अमित गुणशालिनी महामान्या, सतीशिरोमणि, ग्रन्थकर्त्री श्रीआर्याजी महोदया के इस छोटे से जीवन चरित्र के लेख में जो त्रुटियां रहीं हों उनके लिये मुझे क्षमा प्रदान करें।

सुजनों का विनीत—सेवक

जयदयाल शर्मा

(भूतपूर्व संस्कृत प्रधानाध्यापक

श्री डूँगर कालेज) बीकानेर

❀ श्री ❀

प्रस्तावना।

(ग्रन्थकर्त्री की ओर से)

प्रियवर वाचकवृन्द !

यह "भूरसुन्दरी विवेक विलास" ग्रन्थ आपकी सेवा में प्रस्तुत है; मानव जाति के लिये इसकी उपयोगिता के वा अनुपयोगिता के विषय में अपनी ओर से कुछ न लिख कर इसका निर्णय आप ही पर छोड़ा जाता है।

इस प्रसङ्ग में यह कह देना अत्यावश्यक है कि मैं किसी भाषा के साहित्य की न तो विदुषी हूं और न लेखिका ही हूं। किन्तु केवल संस्कृत व हिन्दी भाषा के साहित्य से मेरा कुछ २ परिचय मात्र है, ऐसी दशा में मुझे स्वयं निश्चय नहीं है कि यह ग्रन्थ सत्पुरुषों के मनोरञ्जन के लिये एवं सर्व साधारण को कुछ शिक्षा देने के लिये उपयुक्त हो सकेगा।

इस प्रयास का हेतु केवल यही है कि कुछ काल से कतिपय सज्जनों का मुझ से यह अत्यन्त अनुरोध था कि मैं अपने भावों को लेखवद्ध कर प्रकाशित करूं, कि जिनका निदर्शन मैं समय २ पर व्याख्यानादि के अवसरों पर करती रही हूँ, वृद्ध अवस्था, शरीर की रुग्णता, शक्ति की क्षीणता, मनोवल का ह्रास, स्मृतिशक्ति की न्यूनता एवं लेख का अनभ्यास, इत्यादि विरोधी साधनों के होने पर भी सत्पुरुषों की आज्ञा का परिपालन अपना मुख्य कर्तव्य जान यह प्रयास किया गया

है, पाठकजन सोच सकते हैं कि ऐसी दशा में भावों के उल्लेख में त्रुटियों का होना नितान्त सम्भव है, अतएव भावों को लेखबद्ध कर लेने पर भी मेरा साहस नहीं होता था कि मैं मुद्रण के द्वारा इन को प्रकाशित करूं। दैवयोग से किसी प्रकार यह बात श्रीयुत विद्वद्वर्य, पण्डित जयदयाल जी शर्मा शास्त्री (भूतपूर्व संस्कृत प्रधानाध्यापक श्री डूगर कालेज बीकानेर) को मालूम हुई कि मैंने सज्जनों के अनुरोध से अपने कुछ भावों को प्रकाशन के लिये लेखबद्ध कर रक्खा है, अत उक्त पण्डित जी महोदय ने पत्र भेज कर लेखों के अवलोकन की इच्छा प्रकट की, पत्र पाकर अपना सर्व लेख मुझे उक्त महानुभाव के पास भेजना ही पड़ा, मैंने कुछ काल पूर्व उक्त महोदय से व्याकरणादि विषय का अभ्यास भी किया था, इस कारण भी आपके वचन का उल्लङ्घन करना मेरे लिये अनुचित था, उक्त महोदय के पास लेख भेज देने पर उसके विषय में सम्मति न आने तक हृदय में निरन्तर यह शङ्का बनी ही रही कि पण्डित जी महोदय लेख को देख कर अवश्य बाल लीला समझेंगे, परन्तु धन्य है श्री सर्वज्ञ प्रभु को कि जिनकी सत्कृपा से थोड़े ही समय के बाद मेरी उक्त शङ्का विलीन हो गई अर्थात् लेखों का अवलोकन कर एव पसन्द कर उनके प्रकाशन के लिये उक्त महानुभाव का अनुरोध होने पर पूर्व कदा शङ्का दूर हो कर हृदय में इन के प्रकाशन के लिए पूर्णतया साहस का सचार हो गया और उक्त साहस इसलिए और भी सुदृढ हो गया कि पूर्वोक्त महानुभाव पण्डित जी महोदय ने इनके सशोधन भार का अपने ऊपर ले कर मुझे अनुगृहीत ही किया। ठीक ही है कि महानुभाव गम्भीर हृदय सज्जन अपनी सहज प्रकृति से ही दयालु और परोपकारी होते हैं तथा भुजा पसार कर समुद्र के विस्तार को बतलाने वाले बालक की भी सराहना करते हैं, अस्तु-इसी अवलम्ब को प्राप्त कर मैं इस ग्रन्थ को पाठकजनों की सेवा में प्रस्तुत करने में समर्थ हुई हूँ।

पाठकवर्ग से मैं यह पुनः निवेदन करना चाहती हूं कि—वास्तव में मुझ में इतनी विद्या, बुद्धि, योग्यता, तथा लेख शक्ति नहीं है कि मैं कोई ग्रन्थ बना कर प्रस्तुत कर सकूं तथा वह सत्पुरुषों के मनोरञ्जन एवं सर्वसाधारण की हित शिक्षा के लिये पर्याप्त हो, परंतु श्री वीतराग भगवान् की पूर्ण कृपा तथा मेरे लेखों को सौभाग्य से मेरे जो श्रीयुत महानुभाव पण्डित जी महोदय की लेखनी का सङ्ग प्राप्त हो गया है इस लिए मुझे यह दृढ़ निश्चय है कि जैसे कमलपत्र को प्राप्त हो कर जल का विन्दु मुक्ताफल की शोभा को धारण कर सत्पुरुषों के चित्त को आह्लाद देता है; जैसे वही जल का विन्दु स्वाति नक्षत्र में सीप के सङ्ग को प्राप्त होकर साक्षात् मुक्तारूप वन कर महानुभावों के गले का हार वनता है और जैसे कांच भी कांचन के सङ्ग को प्राप्त हो कर मर्कतमणि की शोभा को प्राप्त होकर चित्ताकर्षक हो जाता है उसी प्रकार ये मेरे लेख भी पूर्वोक्त विद्वद्वर्य महानुभाव की लेखनी के संग को प्राप्त हो कर सज्जनों के चित्त को अवश्य आह्लादप्रद होंगे, यह दृढ़ निश्चय है।

पाठकों को यह तो भली भांति ज्ञात ही है कि मानव जीवन के लक्ष्य उद्देश्य और कर्त्तव्य का विषय कितना गूढ़ और विशाल है, किञ्च समस्त वड़े २ आर्षग्रन्थों में इसी का तो प्रतिपादन है. इतने गूढ़ और विशाल विषय का अति संक्षेप में तथा छोटे से ग्रन्थ में निदर्शन करना कितना कठिन है, क्या समुद्र का जल कहीं लोटे में भरा जा सकता है ? कभी नहीं, इस दशा में विषय प्रतिपादन में उसके सर्व अङ्गों और उपाङ्गों का छोटे से ग्रन्थ मे निदर्शन करना कठिन ही नहीं किन्तु असम्भव है, इतना होने पर भी इस वात के लिये पूरी चेष्टा की गई है कि प्रत्येक विषय के वर्णन में उसके स्वरूपादि का दिग्दर्शन किया गया है, उसका विस्तार तो वृहद् शास्त्रों मे ही देखना आवश्यक है।

पूर्वोक्त विषय की उपयोगिता के लक्ष्य से इस ग्रन्थ के चार परिच्छेद किये गये हैं:—

जब तक मनुष्य अपने जीवन के वास्तविक स्वरूप को तथा उसके लक्ष्य को नहीं जानता है तब तक वह कुछ नहीं कर सकता है जीवन के स्वरूप तथा लक्ष्य को समझ लेने पर भी यदि शारीरिक बल का ह्रास तथा मन, बुद्धि और चित्त की निर्बलता हो तो भी वह कुछ नहीं कर सकता है, उक्त साधनों के होने पर भी कर्त्तव्या-कर्त्तव्य का ज्ञान न होने पर मनुष्य अकिञ्चित्कर होता है, उक्त ज्ञान होने पर भी यदि धर्म और अधर्म का वास्तविक विवेक न हो तो समय २ पर धोखा खाता है तथा इतना होने पर भी सृष्टिवर्त्ती नव पदार्थों का यथार्थ विज्ञान न होने से अवलम्ब रहित होता है, बस इसी विषय को विचार कर प्रथम परिच्छेद में- "मानव जीवन और उसका लक्ष्य" "शारीरिक परिस्थिति" "कर्त्तव्याकर्त्तव्य" "धर्माधर्म विवेचन" तथा "नव पदार्थ स्वरूप" इन पाँच विषयों का वर्णन किया गया है।

बाल्यावस्था में योग्य शिक्षा तथा शुभ संस्कारों के धारण के विना मनुष्य मनोबल से रहित होने के कारण कुछ नहीं कर सकता है, उक्त साधन के उपलब्ध होने पर भी यदि मनुष्य शारीरिक बल से रहित हो तो क्या कर सकता है? पूर्वोक्त दोनों साधनों की प्राप्ति का मूल कारण योग्य विवाह है, तीनों विषयों का सगठन होने पर भी ससार में सर्व कार्य सिद्धि का मूल साधन धन है तथा उसकी रक्षा अपव्यय के परित्याग से अर्थात् उचित व्यय से होती है, इतना सब कुछ होने पर भी यदि गार्हस्थधर्म का ठीक रीति से पालन न हो तो सब ही आश्रमों को धक्का पहुँचता है, अतएव दूसरे परिच्छेद में "कुमार शिक्षण" 'ब्रह्मचर्य" "योग्य विवाह" "उचित व्यय वा अप-व्यय त्याग" तथा "गार्हस्थ धर्म" इन पाच विषयों का वर्णन किया गया है।

सर्व साधनों के प्रस्तुत होने पर भी यदि मनुष्य सांसारिक परिस्थिति के स्वरूप को न जान कर सांसारिक पदार्थों में आसक्त और मोहित हो तो क्या कर सकता है ? सांसारिक पदार्थों से मोह रहित पुरुप भी यदि धर्म के महत्व को न जाने तो उस का आचरण कैसे कर सकता है ? धर्म का महत्व जान लेने पर भी उस के आचरण के लिये यदि योग्यता न हो तो उस का सेवन कैसे कर सकता है ? धर्म सेवन की योग्यता होने पर भी यदि जीव के कर्म और उसके विपाक का ज्ञान न हो तो धर्म सेवन में दृढ़ता कदापि नहीं हो सकती है तथा कर्म और उस के विपाक का ज्ञान होने पर भी यदि मनुष्य में सन्नीति और विरक्ति न हो तो मार्ग में फिसल जाता है, वस इसीलिये तीसरे परिच्छेद में "सांसारिक परिस्थिति" "धर्म महत्व" "धर्म सेवन योग्यता" "कर्म और उसका विपाक" तथा "सन्नीति व वैराग्य" इन पांच विपयों का वर्णन किया गया है। योग्य अवस्था को प्राप्त हो कर विवेकवान् तथा वैराग्य सम्पन्न पुरुप यदि साधु धर्म का पालन न करे तो आत्मा का कल्याण नहीं हो सकता है, साधु धर्म का सेवन तभी हो सकता है जब कि मनुष्य को मोक्ष का स्वरूप और तद्वर्त्ती शास्वत सुख का वोध हो। मोक्ष स्वरूप और तत् सुख का वोध होने पर भी यदि मोक्ष मार्ग वा मोक्ष साधन से अनभिज्ञ हो तो क्या कर सकता है ? मोक्ष मार्ग वा मोक्ष साधन की प्राप्ति इष्टदेव के ध्यान वा तदुपासना से ही हो सकती है, अतः चौथे पदिच्छेद मे "साधु धर्म" "मोक्ष स्वरूप" "मोक्ष मार्ग की प्राप्ति का उपाय" तथा "श्री नवकार मन्त्र" इन चार विपयों का वर्णन कर अन्त में परिशिष्ट भाग में मनोवल सम्पादन के लिये शास्त्रोक्त हितोपदेश किया गया है। कहने की आवश्यकता नहीं है कि पूर्वोक्त विपयों में से प्रत्येक विषय अति विशाल तथा वहु वक्तव्य है, अर्थात् एक २ विषय के भी यथार्थ प्रतिपादन में एक २ विशाल ग्रन्थ वन सकता है,

अतएव पाठक सज्जनों से निवेदन है कि अति सक्षेप रूप में प्रत्येक विषय के वर्णन में जो न्यूनता रही हो उसके लिये मुझे क्षमा प्रदान करें।

ग्रन्थ के सशोधन के अतिरिक्त पूर्वोक्त विद्वद्वर्य पण्डितजी महोदय ने अपनी ओर से जो मेरा जीवन-चरित्र सयाजित किया है, यह केवल मात्र उनकी मुझ पर सत्कृपा है, क्योंकि वास्तव में मैं इस योग्य व्यक्ति नहीं हूँ कि जिसका जीवन चरित्र लिखा जाकर सर्व साधारण के सामने रक्खा जावे और लोग उसे पढ कर कुछ शिक्षा ग्रहण कर सकें, किञ्च जीवन चरित्र में जो मेरा गुण आदि प्रदर्शित कर मेरे लिये प्रशस्त वाक्यों का उल्लेख किया गया है, सो वस्तुत में इस योग्य नहीं हूँ कि मेरी कुछ भी प्रशसा की जावे क्योंकि मुझमें प्रशसा योग्य कोई गुण नहीं है, ऐसी परिस्थिति में केवल यही कहा जा सकता है कि ऐसा करने का प्रधान हेतु महानुभाव पण्डितजी महोदय का मुझ पर सत्कृपा भाव तथा उनकी सज्जनता ही है, राजर्पि भर्त्तृहरि जी ने सत्य ही कहा है कि-"परगुण परमाणून् पर्वतीकृत्य नित्य निज हृदि विकसन्त सन्ति सन्त कियन्त" अर्थात् सत्पुरुष दूसरे के परमाणु तुल्य गुण को भी पर्वत तुल्य मान कर अपने हृदय कमल को प्रफुल्लित करते हैं, अस्तु—उक्त सत्कृपा भाव के लिये मैं उक्त महोदय की पूर्णतया आभारिणी हूँ।

अन्त में मैं पूर्वोक्त श्रीमान् पण्डित जी महोदय को उनकी पूर्ण कृपा के लिये विशुद्धभाव से धन्यवाद प्रदान कर तथा ग्रन्थ के मुद्रण में सहायता प्रदान कर पुण्योपार्जनकर्त्ता महानुभावों को धन्यवाद प्रदान कर पाठकवर्ग से पुन निवेदन करती हूँ कि—इस ग्रन्थ में विषय प्रतिपादन में जो २ त्रुटियां हों उन पर आप ध्यान न दें, किन्तु उसके सारभाग को ग्रहण कर मुझे अनुगृहीत करें।

अर्थ—योगीश्वरों से ज्ञात तथा कथितस्वरूप वाले, कल्याणरूपा लता में नवीन पत्रों को उत्पन्न करने के लिये मेघ के समान, शान्तियुक्त शिवस्वरूप, शिवपद के प्रधान कारण, मुक्तिरूपा सुन्दर अङ्गना के विलास में प्रीति रखने वाले, लोक के अवलोकन की कला में अधिक प्रकाश वाले, मन और इन्द्रियों का दमन करने वाले, अचिन्त्यरूप, निर्मल, मोह और मान को जीतने वाले, तीनों लोकों के प्राणियों के नेत्रों में अनुपम सुधा का प्रवाह करने वाले तथा अतिशय कान्तियुक्त श्रीपञ्चपरमेष्ठियों को मैं बारम्बार वन्दना करती हूं ॥ १ ॥ २ ॥

हे जिनवर !

जिन लोगों की योगाभ्यास में अत्यन्त ही अनभिज्ञता है, जिन का शाब्द (व्याकरण ज्ञान) में बुद्धि प्रवेश नहीं है, जिनकी ब्रह्म और आत्मा में लीनता नहीं है, जिनका तपस्या में तनिक भी अनुभव नहीं है तथा जिनको ज्ञानादि (ज्ञान दर्शन और चारित्र) का भी बोध नहीं है, वे लोग भी आपके दोनो चरणों की भक्ति करने से उत्कृष्ट ज्योतिः स्वरूप मोक्षतत्व को प्राप्त होते हैं ॥ ३ ॥

संसार सागर से पार करने के लिये नौका के समान मोहजन्य अन्धकार को दूर करने में अद्वितीय महान् प्रभाव से युक्त तथा भव्य जीवों को मुक्ति मार्ग का उपदेश देने में निरत, श्रीचम्पा जी महारानी निज गुरु को निरन्तर प्रणाम कर सांसारिक जीवों के हित, कल्याण और सुख के लिए मैं अपनी बुद्धि के अनुसार भूर सुन्दरी विवेक विलास नामक ग्रन्थ को बनाती हूं सत्पुरुष (मुझ पर) अत्यन्त कृपा कर (इस ग्रन्थ में से) दोषसमूह का परित्याग कर सार भाग का ग्रहण करें ॥ ४ ॥ ५ ॥

॥ इति शुभम् ॥

——::※::——

❀ श्री ❀

श्रीमद्‌परमगुरुभ्योनम

भूगसुन्दरी विवेक विलास

प्रथम परिच्छेद ।

१—मानवजीवन और उसका लक्ष्य ।

सर्वतन्त्र सिद्धान्त से यह बात मानी हुई है कि संसारवर्त्ती सर्व देहधारियों में यह मनुष्य शरीर सर्वोत्तम है अर्थात् मनुष्य देहधारी जीवात्मा सबसे श्रेष्ठ माना जाता है, इसका कारण यह है कि इस से भिन्न प्राणियों में मननशक्ति अर्थात् सदसत् का विवेक करने की शक्ति नहीं है, किन्तु यह गुण इसी में पाया जाता है, शास्त्रकारों ने "मनुष्य" शब्द की व्युत्पत्ति भी यही की है कि "मननशीलत्वान्मनुष्य" अर्थात् मननशील होने के कारण मनुष्य कहलाता है, अन्य जीवों के समान आहार, निद्रा, भय और मैथुन आदि गुण यद्यपि इसमें भी एक से विद्यमान हैं तथापि सदसत की विवेकशक्ति केवल मात्र इसीमें विद्यमान है इसीलिये यह यह सब प्राणियों में श्रेष्ठ गिना जाता है।

इस पूर्वोक्त मनन शक्ति में इतना प्रभाव है कि यदि जीवात्मा इस शक्ति से ठीक रीति से कार्य ले तो वह लोक और परलोक के सुख को सहज में पा सकता है तथा उसकी प्राप्ति होने पर ही इस जीवात्मा का सर्व पुरुषार्थ सफल माना जाता है, शास्त्रकारों न कहा भी है कि

"अथ त्रिविधदुःखात्यन्त निवृत्तिरत्यन्त पुरुपार्थः" अर्थात् [1]आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक, इन तीन प्रकार के दुःखों से अत्यन्त छूट जाना ही जीवात्मा का परम पुरुपार्थ है, इन तीनों प्रकार के दुःखों से छूटने के लिये क्या २ उपाय और साधन हैं; इस विपय का वर्णन आगे प्रसंगानुसार योग्य स्थल पर किया जावेगा, यहां पर संक्षेप से केवल मात्र इस विपय का वर्णन किया जाता है कि—मनुष्य किस प्रकार से पूर्वोक्त तीनों प्रकार के दुःखों से छूटने का अधिकारी वन सकता है।

पहिले कहा जा चुका है कि लोक और परलोक के सुख को सहज में प्राप्त करने के लिये इसके पास एक मात्र साधन "मनन शक्ति" है, वस इसी शक्ति को इस प्रकार निर्मल रखना चाहिये कि, उसमें किसी प्रकार से भी तनिक भी मलीनता न आने पावे, क्योंकि उसमें तनिक भी मलीनता आ जाने पर शनैः २ वह मलीनता वढ़ कर उसे इस प्रकार से नष्ट कर देती है जैसे जंग लोहे को नष्ट कर देता है तथा मनन शक्ति के नष्ट हो जाने पर मनुष्य किसी काम का नहीं रहता और पद २ पर दुःख को पाकर वह दोनों लोकों के सुखों को तिलाञ्जलि दे बैठता है, मनन शक्ति के निर्मल रखने के साधन का वर्णन करने से पहिले यह कह देना अति आवश्यक है कि—पूर्व सञ्चित कर्म राशि के अनुसार प्राप्त हुआ यह जीवनकाल नियमित है तथा यह एक ऐसा उत्तम और अत्यन्त प्रिय पदार्थ है कि जिसकी वरावरी करने वाला संसार में दूसरा कोई पदार्थ नहीं है, इसकी महिमा ऐसी अपरम्पार है कि—कोई

१—शारीरिक रोग तथा मानसिक चिन्ता, भय और शोक आदि से उत्पन्न दुःख को आध्यात्मिक कहते हैं, सर्प, सिंह, वाघ और वीछी आदि दुष्ट तथा हिंसक जन्तुओं से उत्पन्न होने वाले दुःख को आधिभौतिक कहते हैं तथा अति वृष्टि, अनावृष्टि, अति शीत, अति उष्णता और विजुली का गिरना आदि कारणों से उत्पन्न होने वाले दुःख को आधिदैविक कहते हैं।

भी उसको यथार्थ रीति से कह नहीं सकता है, देखो! यह जो कुछ दिखाई दे रहा है सब जीवन से ही है, यदि जीवन ही नहीं तो फिर कुछ भी नहीं, किसी महात्मा ने सच कहा है कि "सम्मीलने नयनयोर्नहि किञ्चिदस्ति" अर्थात् नेत्रों के मिच जाने पर कुछ भी नहीं रहता है, परन्तु यह सब ही जानते हैं कि ऐसे परम प्रिय जीवन की ससार में कुछ भी स्थिरता नहीं है, अर्थात् उसके समय की कुछ भी स्थिरता नहीं दीखती है, इसलिये यह विचार लेना चाहिये कि जीवन एक खिले हुए उस फूल के समान है जोकि कुछ काल में अपने आप ही कुम्हला कर गिर पडेगा और फिर कभी उस शोभा को प्राप्त नहीं होगा, यह परम खेद का विषय है कि ऐसे परम प्रिय जीवन की भी मनुष्य अपनी अज्ञानता के कारण कुछ भी कदर नहीं करते हैं, देखा जाता है कि बहुत से मनुष्य अपने समय को अनेक प्रकार के व्यसन आदि निकृष्ट कार्यों में अथवा बिना प्रयोजन बैठे रह कर अथवा सोकर व्यर्थ में गमा देते हैं और उनके जीवन का अधिकाश भाग इसी प्रकार निकल जाता है, वे इस बात को कभी नहीं सोचते हैं कि जीवन काल के जितने पल बीत रहे हैं उतनी ही उनकी आयु घट रही है, क्योंकि जो समय व्यतीत हो जाता है वह कभी किसी प्रकार से हाथ में नहीं आता है, चाहें उसके लिये कितना ही प्रयत्न और व्यय क्यों न किया जावे, भाषा के एक कवि ने ठीक ही कहा है:—

जैसे गङ्ग प्रवाह यह, आवत कबहुँ न फेर।
तैसेहि लै वय रैन दिन, आवत कबहुँ न फेर॥ १॥

अर्थात् जिस प्रकार यह गङ्गा का प्रवाह जाकर फिर पीछे नहीं लौटता उसी प्रकार ये रात और दिन आयु को लेकर फिर कभी नहीं लौटते हैं॥ १॥

किञ्च—इस बात को ससार में कोई भी नहीं जानता कि कौन मनुष्य कब तक जीता रहेगा, क्योंकि प्राय बडे २ बलवान् मनुष्य भी

अपनी युवावस्था में ही मर जाते हैं और बहुतेरे लोग बाल्यावस्था में ही इस संसार से चले जाते हैं, एक कवि ने सत्य कहा है कि:—

नाचत काल कराल नित, केश पकरि तव शीश।
जानत को दूरि पांव तल, कब डारै खल पीस ॥१॥

अर्थात् भयङ्कर काल केश पकड़ कर सदा तेरे शिर नाचता है; वह नीच अपने पैरों के नीचे तुझे दल कर कब पीस डालेगा; इस बात को कौन जानता है ॥१॥

इन सब बातों का विचार कर मानना पड़ेगा कि प्रत्येक मनुष्य को इस संसार में अपने कर्म के अनुसार नियत समय तक जीना है, इसलिये सब के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि कोई भी अपने समय को कभी भूल कर भी व्यर्थ न खोवे; किन्तु प्रत्येक क्षण को अपने कर्त्तव्य में व्यतीत करे।

जब हम मनुष्य के जीवन काल में से व्यर्थ भाग को अर्थात् बाल्यावस्था, निद्रावस्था तथा रोगावस्था आदि को निकाल कर देखते हैं तो बहुत थोड़ा सा ही भाग बच रहता है, अब उसे इतने ही समय के भीतर अपने कर्त्तव्य को बड़ी सावधानी से पूरा कर लेना चाहिये, क्योंकि जो समय बीत गया है वह तो सदा के लिये चला ही गया और जो समय आने वाला है; वह देखने में आवे वा न आवे; इस बात को कौन जानता है, इसलिये भूतकाल के शोक और भविष्यत् काल के विश्वास को छोड़ कर मनुष्य को वर्त्तमान काल से काम लेना चाहिये, किञ्च—यह भी जान लेना चाहिये कि अनुचित रीति से अपने जीवन को व्यतीत कर बहुत काल तक जीने की अपेक्षा उचित रीति से अपने जीवन को बिता कर थोड़े ही काल तक जीना उत्तम है, क्योंकि यदि मनुष्य थोड़े समय तक भी जीवे परन्तु मरने के पश्चात् सत्कर्त्तव्यों की कीर्त्ति को छोड़ जावे तो उसका जीवन प्रशंसा के योग्य माना जाता है, यदि मनुष्य ऐसा न कर सका

तो उसके जीने से ही क्या लाभ है ? निकृष्ट जीवन से तो मृत्यु ही भला है, नीति शास्त्र में कहा है कि—

> देहे पातिनि का रक्षा, यशो रक्ष्यमपातवत् ।
> नरः पतितकायोऽपि, यशःकायेन जीवति ॥१॥

अर्थात्—नाशवान शरीर का क्या ? वह तो चाहे शीघ्र विनष्ट हो वा देर से नष्ट हो, उसकी रक्षा नहीं हो सकती है तथा उसकी रक्षा करना भी व्यर्थ है, हा [1]अविनाशी यश की रक्षा करनी चाहिये, क्योंकि शरीर के नष्ट हो जाने पर भी मनुष्य यशरूपी शरीर के द्वारा जीता रहता है ॥१॥

देखो ! हमारे प्रात स्मरणीय महानुभाव पूर्वज पूर्वोक्त नियम के अनुसार अब भी जीवित हैं कि—जिनके नाम का स्मरण समस्त ससार अति गौरव के साथ करता है, इसलिये मनुष्य के लिये अति आवश्यक है कि वह अपने जीवन को परम अमूल्य जान उसका गौरव करे तथा सन्मार्ग पर गमन कर अपने कर्त्तव्य के पालन के द्वारा उसे सफल करे तथा ससार में अक्षय कीर्ति को छोड़ जावे ।

इस विषय में मनुष्य को जान लेना चाहिये कि जीवन की शोभा सच्चरित्र है, वही मनुष्य का अमूल्य और अविनाशी धन है, इस साधन से जो मनुष्य धनवान् होता है वह चाहे किसी अवस्था में क्यों न हो, सभ्य समाज में गौरव और प्रतिष्ठा को पाता है, तात्पर्य यह है कि सर्वथा वैभव सम्पन्न और समृद्धिशाली पुरुष की अपेक्षा भी सभ्य-समाज में सच्चरित्रशाली का विशेष गौरव होता है, किञ्च-सच्चरित्रवान् पुरुष के उच्च सम्मान को देख कभी किसी को ईर्ष्या भी नहीं होती है, देखो ! धनिकों में जैसी उतरा चढ़ी और परस्पर में स्पर्धा रहा करती है उसका [2]शिष्टता के सूत्र में सर्वथा प्रतिषेध है, कारण यह है कि

१—सदा रहने वाले । २—सभ्यता ।

चरित्रपालन ही सभ्यता का प्रधान अङ्ग है, इसीलिये मनुष्य जाति की वास्तविक उन्नति तब ही होती है जब कि उसका प्रत्येक मनुष्य चरित्र-सम्पन्न होकर सज्जनता की कसौटी पर कसा हुआ रहता है, जापान आदि देश इसके ऐतिहासिक उदाहरण हैं। विद्या और योग्यता में चाहे मनुष्य उत्कृष्ट विद्वान् न हो, विशेष वैभव सम्पन्न भी न हो परन्तु सच्चरित्र की कसौटी पर कसा हुआ होने पर वह सर्वत्र आदरणीय और विश्वासपात्र होता है, इसमें सन्देह नहीं कि—विद्वान् और सुयोग्य मनुष्य की अलौकिक बुद्धि पर मोहित होकर चाहे लोग उसे देवता के तुल्य समझते हों परन्तु विश्वास एक ऐसी वस्तु है कि जिसमें विद्या और योग्यता से अधिक कोई बात यदि आवश्यक है तो वह यही सच्चरित्र की कसौटी है। विद्या के बिना ज्ञान, ज्ञान के बिना आचरण और चातुर्य के बिना सुचाल, निस्सन्देह मनुष्य में एक प्रकार की शक्तियां होती हैं परन्तु वे सब ऐसी शक्तियां हैं जो केवल हानि पहुँचाने वाली देखी जाती हैं, क्योंकि इस प्रकार की शक्तियां मनोरञ्जन के लिये आवश्यक हो सकती हैं हां कभी २ मनुष्य उनसे कुछ सीख भी सकता है परन्तु समाज को उनसे कुछ लाभ पहुँचा हो, यह कभी किसीने देखा और सुना न होगा, क्योंकि सत्यता, खरापन, मन वचन और कर्म से भलाई की ओर प्रवृत्ति, दया, न्याय, उचित विषय का दृढ़ पक्षपात, निन्दित कर्मों से घृणा, उदारभाव तथा व्यवहार में स्पष्टता, इत्यादि गुण सच्चरित्र गठन के मुख्य अङ्ग हैं और वे ही समाज के लिये लाभकारी हो सकते हैं।

यह भी स्मरण रखना चाहिये कि दृढ़ प्रतिज्ञा और व्यवहार में स्पष्टता चरित्र संशोधन के लिये एक अपूर्व अवलम्ब है और वही महत्व का प्रधान कारण है, इसलिये मनुष्य को उस पर सदा अपना ध्यान रखना चाहिये, परन्तु इसका निर्वाह उसी मनुष्य से हो सकता है कि जो बनावटी विषय से सर्वथा दूर रहता है और जिसकी सर्वदा यह इच्छा रहती है कि मेरा प्रत्यक्ष और परोक्ष एकसा रहे, बस ऐसे ही

मनुष्य को प्राणान्त कष्ट के समान समाज में निरादर, अप्रतिष्ठा तथा तुच्छता के कष्ट को सहने का अवसर कदापि प्राप्त नहीं होता है। सच्चरित्रगठन मनुष्यमात्र के जीवन का एक मुख्य उद्देश्य होना चाहिये, इसकी थोड़ी भी चिन्ता मनुष्य में सज्जनता को उत्पन्न करने के लिये तथा दु ख से बचाने के लिये [1]पर्याप्त होती है, नीतिशास्त्र में कहा है कि—

अनुगन्तुं सतां वर्त्म, कृत्स्न यदि न शक्यते ।
स्वल्पमप्यनुगन्तव्य, मार्गस्थो नावसीदति ॥१॥

अर्थात्—सज्जनों के चले हुए मार्ग पर यदि मनुष्य भली भाँति न चल सके तो जितना हो सके उतना ही चलना चाहिये, जो एक सीधे मार्ग में जा रहा है वह कभी भटकने के दु ख को नहीं सहेगा ॥१॥

इसलिये यह निश्चय है कि ऊँची श्रेणी के जनों में जो वर्त्ताव है यदि मनुष्य उसी का अनुकरण करता रहे तो कभी सङ्कट में न पड़ेगा, एक अंग्रेजी विद्वान् का मत है कि—"जो ऊँचे की ओर नहीं ताकता है वह अवश्य नीचे को देखेगा ।"

कोई मनुष्य यदि ऊँचे स्थान पर चढ़ रहा है तो चाहे वह पूरी ऊँचाई तक न भी पहुँचे पर उस स्थान से कुछ ऊँचाई पर तो अवश्य ही पहुँचेगा कि जहा से वह चला था, जिस प्रकार दिन का प्रकाश एक छोटे से छिद्र में होकर अन्धकार को दूर कर देता है ठीक उसी प्रकार सच्चरित्र का अल्प भाग भी धीरे २ अन्त करण की शुद्धता[2] के लिये समर्थ होता है, बात केवल इतनी है कि—उसका यथोचित आदर करते रहना चाहिये; क्योंकि जो मनुष्य एक विषय में भी चलित[3] वृत्त हो जाता है वह शेष [4]वृत्त की यथोचित रक्षा कदापि नहीं कर सकता है, नीति शास्त्र में कहा भी है कि —

१—काफी। २—पवित्रता। ३—सदाचार से डिगा हुआ। ४—सदाचार।

यथा हि मलिनैर्वस्त्रैर्यत्रतत्रोपविश्यते ॥
तथा चलिपवृत्तस्तु, वृत्ताशेषं न रक्षति ॥ १ ॥

अर्थात्—जिस प्रकार मलीन वस्त्र वाला पुरुष स्थान का कुछ विचार न कर चाहे जहां बैठ जाता है इसी प्रकार सच्चरित्र से डिगा हुआ मनुष्य शेष भी सच्चरित्र की रक्षा नहीं कर सकता है ॥ १ ॥

देखो ! जो मनुष्य स्वच्छ वस्त्रों को पहिने है वही मैली कुचैली जगह में बैठने से संकोच करता है; किन्तु जो मलीन वस्त्रों को पहिने है उसे मैली जगह में बैठने में कुछ भी संकोच नहीं होता है; इसी प्रकार जो पुरुष शिष्ट और सदाचारी होते हैं उन्हीं को अपनी शिष्टता और सच्चरित्र के बचाव का ध्यान होता है, मनुष्य को जान लेना चाहिये कि–उसका नित्य का वर्त्ताव उसके लिये एक पाठशाला है, कि जिसमें दृढ़ रह कर वह अपने आप विना किसी को गुरु किये उच्च श्रेणी की शिष्टता और सच्चरित्र को सहज में सीख सकता है। इसलिये जो पुरुष सच्चरित्र की रक्षा करेगा वही उच्च श्रेणी में गिना जाकर सबका माननीय होगा तथा अपने जीवन को सफल कर सकेगा, यही सत्पुरुष के लिये असिधाराव्रत[१] कहा गया है, इस पर चलना अर्थात् इस व्रत का पालन करना महानुभाव का ही काम है, इसकी रक्षा के लिये मनुष्य को अपने लक्ष्य को समुन्नत[२] रखने की नितान्त[३] आवश्यकता है।

२—शारीरिक परिस्थिति ।

महात्माओं का कथन है कि "धर्मार्थ काम मोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्" अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप मानव जीवन के चारों फलों को प्राप्त करने के लिये नीरोगता अर्थात् शरीर; अन्तःकरण

१–तलवार की धार पर चलने के नियम । २–ऊँचा । ३–अत्यन्त

और आत्मा का नीरोग होना ही प्रधान कारण है, जो लोग धर्म परायण[१] हैं वे भी शरीर की नीरोगता को ही धर्म का साधन मानते हैं प्रत्यक्ष में भी देखा जाता है कि शरीर के नीरोग न रहने से किसी काम में मन नहीं लगता है, रोग की दशा में साहस[२] करके यदि कोई काम किया भी जावे तो वह पूरा नहीं उतरता, क्योंकि रोगावस्था में शारीरिक बल की कमी के साथ मन की अस्थिरता भी अवश्य रहती है, इसीलिये यवन कवियों ने कहा है कि "तन्दुरुस्ती हजार न्यामत है" परन्तु यह मानी हुई बात है कि शरीर रोगों का अड्डा है, महानुभावों का कथन है कि "शरीर व्याधि मन्दिरम्" अर्थात् शरीर रोगों का घर है जहा तनिक भी अवसर मिला अथवा भूल चूक हुई झट शरीर में रोग घुस जाता है और फिर सहज में नहीं निकलता, अब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि कोई ऐसा भी उपाय है कि जिससे रोग शरीर में कभी घुसने ही नहीं पावे, इस विषय में विद्वानों का मत जानने से पहिले यह अवश्य जान लेना चाहिये कि शरीर की बनावट कैसी है, तथा उसके मुख्य अङ्ग कौन २ से हैं, बहुत से पुरुष घड़ी आदि यन्त्रों को—देखकर अचम्भे में हो जाते हैं परन्तु शरीर का यन्त्र घड़ी आदि यन्त्रों से भी अधिक पेचीदा है। अन्य शास्त्रों में यह माना है कि इसमें पाच तो कर्मेन्द्रिया हैं-मलद्वार, मूत्रेन्द्रिय, हाथ पैर और वाणी, तथा पाच ज्ञानेन्द्रिया हैं-कान, चमड़ी, नेत्र, जिह्वा और नासिका, कर्मेन्द्रियों मे काम करने की शक्ति तथा ज्ञानेन्द्रियों में ज्ञान की शक्ति विद्यमान है, जिनके द्वारा कर्मेन्द्रिया अपने २ कामों में प्रवृत होती हैं तथा जिनसे शरीर की पुष्टि होती है वे अङ्ग कहलाते हैं, कर्मेन्द्रियों को रोग से बचाने का सहज उपाय यह है कि उनसे उतना ही काम कराया जावे कि जितनी उनमें शक्ति है, तात्पर्य यह है कि कार्य करते समय जब किसी इन्द्रिय में कष्ट का अनुभव होने लगे तब शीघ्र ही उससे काम

१—धर्म में तत्पर। २—हिम्मत।

लेना बंद कर देना चाहिये, परन्तु यह भी स्मरण रखना चाहिये कि इन्द्रियां और शरीर काम करने के लिये ही बने हैं इसलिये उनसे उचित कार्य अवश्य लेना चाहिये काम न लेने से वे निकम्मे हो जाते हैं, साधारण कार्यों के सिवाय शरीर से नियमानुसार परिश्रम के काम लेने से बल की वृद्धि होती है तथा भोजन भी पचता है इसी नियमानुसार परिश्रम को व्यायाम कहते हैं। व्यायाम के सिवाय स्वच्छ जल, स्वच्छ वायु, स्वच्छ वस्त्र तथा प्रकृति के अनुसार सात्विक भोजन ये भी शरीर की नीरोगता के कारण हैं, इन सब विषयों का विस्तार पूर्वक वर्णन वैद्यक शास्त्र में देख लेना चाहिये।

ज्ञानेन्द्रियों को भी नीरोग रखने का सहज उपाय यही है कि अपने २ शब्दादि विषय में समुचित प्रवृत्ति करनी चाहिये। तथा किसी समय प्रवृत्ति काल मे किसी इन्द्रिय में दुख का अनुभव होते ही उससे काम लेना बंद कर देना चाहिये मन बुद्धि चित्त और अहंकार, इन चारों वृत्तियों को अन्तःकरण कहते हैं, प्रत्येक कार्य के करने वा न करने के समय में मनुष्य मन के द्वारा संकल्प और विकल्प करता है-कि इस काम को करूं वा न करूं, यद्वा इस को न करूं अथवा करूं, इस संकल्प के होने पर बुद्धि के द्वारा उसके लाभ व हानि का निश्चय किया जाता है, पीछे चित्त के द्वारा उस कार्य के करने वा न करने के विषय में धारणा की जाती है। इसके पश्चात् अहङ्कार के द्वारा कार्य में प्रवृत्ति अथवा कार्य से निवृत्ति होती है, इन चार वृत्तियों से युक्त अथवा पूर्वोक्त चार वृत्ति रूप अन्तःकरण को भी शरीर के समान नीरोग रखना आवश्यक है क्योंकि शरीर के नीरोग होने पर भी यदि मनुष्य का अन्तःकरण रोगी हो तो वह कदापि अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं कर सकता है, यह भी जान लेना चाहिये कि दुर्वासना, मिथ्या ज्ञान (वा अज्ञान) दुराग्रह तथा अस्थिरता, ये चार रोग क्रम से मन आदि चारों वृत्तियों के माने जाते हैं इन रोगों से आक्रांत होकर पूर्वोक्त चारों वृत्तियां निकम्मी

होकर अथवा कुवृत्ति में तत्पर होकर जीवात्मा को दुःख सागर में गिराती है ।

इनमें से मन के रोग दुर्वासना को दूर रखने का प्रधान साधन शास्त्रोक्त सदाचार का पालन ही है, अर्थात् शास्त्रों में कहे हुए सदाचार का पालन करते रहने से दुर्वासना रूपी रोग मन को पीड़ित नहीं कर सकता है, उक्त रीति से मन को नीरोग कर तथा सत्य के द्वारा उसको विशुद्ध बना कर महानुभावों के चरित्र का अवलोकन रूपी आहार देकर उसे पुष्ट बनाना चाहिये, इसके सिवाय यह भी जान लना चाहिये कि मनोवृत्ति अत्यन्त चचल तथा वायु से भी अधिक वेग वाली है, इसकी चचलता तथा वेग को दूर करने के लिये मनुष्य को अभ्यास और वैराग्य का सेवन करना चाहिये, देवाराधन में समुचित प्रवृत्ति को निरन्तर बढाते रहने को अभ्यास कहते हैं, तथा एकान्त में बैठ कर ससार तथा ससारवर्त्ती पदार्थो की सारता और असारता का विचार कर धीरे २ उनसे निवृत्ति को बढाते रहने को वैराग्य कहते हैं ।

बुद्धि के रोग मिथ्या ज्ञान वा अज्ञान को दूर रखने का प्रधान साधन श्रीगुरु देव की उपासना कर सच्छास्त्राभ्यास के द्वारा सम्यक् ज्ञान को प्राप्त करना है अर्थात् सद्गुरु के द्वारा सम्यक् ज्ञान का सम्पादन करते रहने से मिथ्या ज्ञान वा अज्ञान रूपी रोग बुद्धि को पीड़ित नहीं कर सकता है, उक्त रीति से बुद्धि को नीरोग कर तथा सम्यक् ज्ञान की धारणा के द्वारा उसको विशुद्ध बना कर सत्स्वाध्याय रूपी आहार देकर उसे पुष्ट बनाना चाहिये ।

चित्तवृत्ति के रोग दुराग्रह को दूर रखने का प्रधान साधन सद्भावना है, अर्थात् सद्भावना का सेवन करने से दुराग्रह रूपी रोग चित्तवृत्ति को पीड़ित नहीं कर सकता है, इस प्रकार चित्त को नीरोग कर मन, वचन और कर्म से हिंसा के परित्याग के द्वारा उसे विशुद्ध बना कर समता परिणाम रूपी आहार देकर उसे पुष्ट बनाना चाहिये ।

अहङ्कार वृत्ति के रोग अस्थिरता को दूर रखने का प्रधान साधन चित्त की एकाग्रता है, अर्थात् चित्त की एकाग्रता रूपी साधन को पास में रखने से अस्थिरता रूपी रोग अहङ्कार वृत्ति को पीड़ित नहीं कर सकता है, इस प्रकार से अहङ्कार वृत्ति को नीरोग कर तथा साधु जनों की उपासना के द्वारा उसे विशुद्ध बना कर दर्शन और चारित्ररूपी आहार देकर उसे पुष्ट बना चाहिये।

शरीर और अन्तःकरण को नीरोग रखने सिवाय आत्मा का भी नीरोग होना अत्यन्त आवश्यक है; क्योंकि शरीर और अन्तःकरण के नीरोग होने पर भी मनुष्य अपने कर्त्तव्य के पालन में इस प्रकार असमर्थ होता है जैसे कि एक स्वच्छ और विशाल भवन में बैठा हुआ रोगी पुरुष सर्व भोग्य पदार्थों के प्राप्त होने पर भी उनका उपभोग नहीं कर सकता है, अथवा सर्व अस्त्र शस्त्रों के विद्यमान होने पर भी अपने वैरियों को परास्त नहीं कर सकता है, आत्मा को पीड़ित करने वाला रोग अविद्या[1] है, इसको दूर रखने का मुख्य साधन विद्या है अर्थात् विद्याभ्यास के द्वारा अविपरीत[2] ज्ञान की प्राप्ति करने से अविद्यारूपी रोग आत्मा को पीड़ित नहीं कर सकता है; इस प्रकार आत्मा को नीरोग कर तथा तपश्चर्या के द्वारा उसे विशुद्ध बनाकर सद्धर्म सेवन रूपी आहार देकर उसको पुष्ट बनाना चाहिये।

इस प्रकार शरीर, अन्तःकरण और आत्मा के नीरोग, विशुद्ध तथा बलिष्ट होने पर मनुष्य अपने कर्त्तव्य का पालन कर दोनों लोकों के सुख को प्राप्त कर सकता[2] है, महाभारत में लिखा है, कि शरीर रूपी रथ है, आत्मारूपी स्वामी उस पर बैठा है, बुद्धि रूपी सारथि (रथ हाँकने वाला) है, मन रूपी रश्मि (लगाम) है तथा इन्द्रियाँ रूपी घोड़े

१—असत्य को सत्य, अनित्य को नित्य, अशुचि को शुचि, कुगुरु को सुगुरु, कुदेव को सुदेव, कुमत को सुमत, कुमार्ग को सुमार्ग, दुःख को सुख तथा अजीव को जीव मानना इत्यादि विपरीत ज्ञान को अविद्या कहते हैं। २—यथार्थ।

हैं । पूर्वोक्त कथन ठीक ही प्रतीत होता है, क्योंकि जहा तक शरीर रूपी रथ ठीक न हो, उस पर बैठने वाला आत्मा रूपी स्वामी सावधानता के साथ न बैठे, बुद्धि रूपी सारथि सावधान रह कर मन रूपी लगाम को अच्छे प्रकार न पकड़े रहे तब तक इन्द्रिया रूपी घोडे काबू में नहीं रह सकते हैं—और उनके काबू में न रहने से आत्मा अपनी जीवन यात्रा को कदापि पूर्ण नहीं कर सक्ता है, अर्थात् अभीष्ट स्थान पर कदापि नहीं पहुँच सकता है—अतएव मनुष्य के लिये यह परम आवश्यक है कि वह शरीर, अन्त करण और आत्मा को नीरोग तथा बलवान् कर अपने कर्त्तव्य के आचरण के द्वारा अपनी जीवन यात्रा को सफल करे ।

३—कर्त्तव्याकर्त्तव्य ।

ससारवर्ती प्रत्येक प्राणी प्राकृतिक नियम से ही सुख प्राप्ति की तथा दु ख निवृत्ति की अभिलाषा करता है, इसी नियम के अनुसार मानव जाति भी सर्वदा सुख प्राप्ति की अभिलाषा करती है तथा दु खों की निवृत्ति को चाहती है परन्तु यह मानी हुई बात है कि प्रत्येक वस्तु की प्राप्ति के लिये शास्त्रों में जो पृथक् २ नियम और साधन बतलाये गये हैं, उन्हीं का अनुसरण करने से अर्थात् उन्हीं के अनुकूल वर्त्ताव करने से तथा विरोधी साधनों के परित्याग से मनुष्य प्रत्येक वस्तु को प्राप्त कर सकता है, यदि कोई मनुष्य उन नियमों और साधनों का अनुसरण न कर उनके विरोधी नियमों वा साधनों का अवलम्बन करे तो उसे अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती है ।

सर्व तन्त्र सिद्धान्त से यह निश्चय हो चुका है कि मनुष्य को धर्म के सेवन से सुख[1] की तथा अधर्म के सेवन से दु ख की प्राप्ति होती है । धर्म सेवन का ही दूसरा नाम कर्तव्य पालन है—तथा अधर्म सेवन को अकर्त्तव्याचरण कहते हैं, बस इस कथन से यह सिद्ध हो गया

१—यह कथन व्यवहार की अपेक्षा से जानना चाहिये क्योंकि परमार्थ तया लौकिक सुख सुखाभास है ।

कि प्रत्येक सुखाभिलाषी मनुष्य को अधर्माचरण का परित्याग तथा धर्माचरण अर्थात् कर्त्तव्य का पालन करना चाहिये।

धर्म और अधर्म का विवेचन इसी परिच्छेद में आगे किया जावेगा, यहाँ पर संक्षेप से यह दिखलाया जाता है कि कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य के आचरण से पूर्व मनुष्य की आन्तरिक[1] शक्ति का किस प्रकार विकास होता है तथा वह कर्त्तव्याकर्त्तव्य के विषय में मनुष्य को क्या उपदेश करती है, प्राकृतिक[2] नियम से ही मनुष्यमात्र को एक ऐसी शक्ति प्राप्त है कि जिससे वह शुद्ध विचार के द्वारा अपने आप ही कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य के विषय में बहुत कुछ विवेक कर सकता है तथा प्रत्येक कार्य के परिणाम को भी सोच सकता है-इसीलिये मनुष्य को उचित है कि प्रत्येक कार्य को करने से पहिले उस शक्ति की अनुमति लेकर कार्य को करे तथा उसके परिणाम का विचार कर ले—इस प्रकार वह कर्त्तव्याकर्त्तव्य का अपने आप ही निश्चय कर सकता है।

यह भी जान लेना चाहिये कि—"कर्त्तव्य" से अभिप्राय उन कर्मों से नहीं है कि जिनका परिणाम प्रत्यक्ष में सुखदायक हो; न अकर्त्तव्य से अभिप्राय उन कर्मों से है कि जिनका परिणाम प्रत्यक्ष में दुःखदायक हो। देखो! चोरी आदि बहुत से काम यदि राजभय न हो तो बहुधा बहुत ही सुखदायक और लाभकारक हो सकते हैं; किन्तु शास्त्रों और विद्वानों के मत के अनुसार अकर्त्तव्य ही हैं, इसी प्रकार बहुत से काम जो प्रत्यक्ष में लाभदायक नहीं कहे जा सकते हैं परन्तु वास्तव में कर्त्तव्य हैं, जैसे दान आदि कर्म, किन्तु कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य से अभिप्राय यही है कि धर्मशास्त्र में साधारणतया कहे हुए कर्म कर्त्तव्य कहे जाते हैं तथा उनमें निषेध किये हुए कर्म अकर्त्तव्य कहे जाते हैं, मनुष्य को यह भी स्मरण रखना चाहिये कि कर्त्तव्य और

१—भीतरी। २—प्रकृति से उत्पन्न।

अकर्त्तव्य के विचार की शक्ति जो मनुष्य को दी गई है वह कर्मों के प्रत्यच गुण वा दोष पर निर्भर नहीं है, हाँ विद्या और तर्कशास्त्र के द्वारा उसकी पुष्टि अवश्य होती है, मन की चञ्चलता और राग द्वेष की प्रबलता के कारण यद्यपि निषिद्ध कर्मों का व्यवहार तुच्छ बुद्धि वाले सद्विद्यारहित पुरुषों से होता ही रहता है-परन्तु यह निश्चय बात है कि आन्तरिक[1] शक्ति का उपदेश निषिद्ध कर्मों के करने से पहिले उन को भी हो ही जाता है, अर्थात् लज्जा, शङ्का और भय का सञ्चार उनके हृदय में अवश्य होता ही है, हा उस उपदेश का मानना या न मानना उनके आधीन है। देखो! चोर पुरुष जब चोरी करने का विचार करता है तब उसी समय एक गुप्त वाणी उसके हृदय में पहिले ही कह देती है कि यह कर्म अच्छा नहीं है, अब यदि उसका मन विकार रहित है तो वह इस उपदेश को मान लेता है, यदि मन शुद्ध नहीं है और धन के लोभ की प्रबलता हृदय में समाई हुई है तो अन्तरात्मा के उस उपदेश का यह उल्लङ्घन कर देता है और उसका मन अपने पक्ष की पुष्टि के लिये उससे अनेक मिथ्या कल्पनायें कराता है, इस प्रकार बारम्बार उसका उल्लघन करने से उस आन्तरिक शक्ति का उपदेश भी जिसको प्रकृति का नियम उसे सद्धर्म पर चलाने के लिये करता है, मन्द हो जाता है, यहा तक कि जब मनुष्य का मन बहुत ही दुर्वासनायुक्त और मलीन हो जाता है तब आन्तर[2] शक्ति के पूर्वोक्त उपदेश का एक शब्द भी उसे सुनाई नहीं पड़ता है, इसी भाति कुछ दिनों तक जब मनुष्य इन्द्रियों के वेग को रोक कर आन्तरिक शक्ति के उपदेश के अनुकूल कर्म करने में तत्पर रहता है तब अभ्यास होते २ उसमें कुछ ऐसी दैवी शक्ति उत्पन्न हो जाती है कि मन और इन्द्रियों को रोक कर आन्तरिक शक्ति की व्यवस्था के अनुसार चलने में उसे कुछ भी कष्ट वा परिश्रम नहीं होता है और न इन्द्रियों में इतनी प्रबलता ही रहती है कि वे मन

१—भीतरी २—भीतरी ।

को उद्विग्न[1] कर सकें, इसलिये यह विचार उचित नहीं है कि अकर्त्तव्य के आचरण से उस प्राकृतिक शक्ति का सर्वथा नाश होजाता है, देखो! कोई कितना ही पापात्मा क्यों न हो; यदि वह किसी समय अपने चित्त को स्थिर कर तथा राग और द्वेष से रहित हो कर एकान्त में बैठ कर अपने पहिले किये हुए कर्मों का विचार करे तो अवश्य उसे अपने पूर्व-कृत अनुचित कर्मों पर पश्चात्ताप होगा और वह उन्हीं कर्मों को कर्त्तव्य मानेगा कि जिनको ऐसे विचार के समय मन की एकाग्रदशा में सब ही लोग कर्त्तव्य कर्म मानते हैं; यद्यपि यह सम्भव है कि-अविद्या के कर्मों के दोष और गुण उस पर प्रकट न हों तथापि वह सहज में कर्त्तव्य को कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य को अकर्त्तव्य अवश्य समझेगा, तात्पर्य यह कि कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य की विवेक शक्ति प्रत्येक मनुष्य को प्राकृतिक नियम से प्राप्त है तथा जो कर्म उस विवेक शक्ति के अनुकूल होते हैं वे ही कर्त्तव्य कर्म हैं कि जिनके करने की आज्ञा शास्त्रों में दी गई है तथा जो कर्म पूर्वोक्त आन्तरिक विवेक शक्ति के प्रतिकूल हैं वे ही शास्त्र से निषिद्ध और अकर्त्तव्य अर्थात् पाप कर्म कहलाते हैं; इसलिये यह बात सिद्ध होगई कि धर्म का व्यवहार और अधर्म अर्थात् पाप का परित्याग मनुष्य मात्र का मुख्य कर्त्तव्य है, इसलिये धर्म और अधर्म का भेद जानने में मनुष्य को अपनी प्रकृति को इस प्रकार से सुधारना चाहिये कि उसकी विवेक शक्ति में कोई अड़चल न पड़ सके, यह भी स्मरण रखना चाहिये कि केवल पारमार्थिक विषय में ही नहीं किन्तु लौकिक व्यवहार में भी विवेक शक्ति का अनुसरण करना अत्यन्त उचित है, देखो! योग शास्त्रादि ग्रन्थों में परमार्थ साधन के जो नियम लिखे गये हैं उनका भी उद्देश्य यही है कि मन और इंद्रियों के निग्रह[2] के द्वारा आन्तरिक विवेक शक्ति पुष्ट हो तथा शान्ति और स्थिरता को अवकाश मिले, क्योंकि शान्ति और स्थिरता के बिना कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य के भेद में विवेक शक्ति का सञ्चार होना असम्भव है।

१—उद्वेगयुक्त। २—निरोध, रुकावट।

इस प्रकार कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य के विषय में स्वभाव सिद्ध विवेक शक्ति के विकाश का सक्षेप से उल्लेख किया गया है, प्रत्येक कार्य को करने से पहिले मनुष्य को इस शक्ति का अनुसरण अवश्य करना चाहिये, इसी शक्ति का अनुसरण कर कर्त्तव्य अर्थात् धर्म का पालन करना चाहिये तथा अकर्त्तव्य अर्थात् अधर्म का परित्याग करना चाहिये कि जिन धर्म और अधर्म का विवेचन अगले पाठ में सक्षेप से किया गया है।

४—धर्माधर्म विवेचन ।

पूर्व पाठ में कहा जा चुका है कि मनुष्य को कर्त्तव्य अर्थात् धर्म के पालन से सुख और अकर्त्तव्य अर्थात् अधर्म के आचरण से दु ख को प्राप्ति होती है, क्योंकि सुख की प्राप्ति का एक मात्र साधन धर्म और दु ख की प्राप्ति का मूलकारण अधर्म है, देखो। शास्त्र का सिद्धान्त वाक्य भी है कि "धर्मजन्यं सुखम्, अधर्मजन्य दु खम्" अर्थात् धम से सुख की तथा अधर्म से दु ख की उत्पत्ति होती है, अब इस पाठ में सक्षेप से धर्म और अधर्म के स्वरूप का विवेचन युक्ति और प्रमाण के द्वारा किया जाता है —

धर्म और अधर्म के स्वरूप को जानने के लिये प्रथम तो मनुष्य को साधारण रीति से यह समझना चाहिये कि त्रिकालदर्शी महानुभावों के बनाये हुए जो शास्त्र हैं तथा आचार्यों के बनाये हुये उन्हीं के अनुकूल जो धर्म शास्त्र हैं उनमें जिस २ कार्य के करने की आज्ञा दी गई है वही धर्म तथा उनमे जिस कार्य के करने का निषेध किया गया है वही अधर्म है।

प्रश्न—जो लोग पढ़े लिखे नहीं हैं वे शास्त्रों को तथा धर्मशास्त्रों को पढ़ कर और उनको समझ कर धर्म और अधर्म का निश्चय कैसे कर सकते हैं ?

उत्तर—वे लोग सद्गुरु के द्वारा उनका श्रवण और मनन कर धर्म और अधर्म का निश्चय कर सकते हैं।

प्रश्न—यदि दैवयोग से सद्गुरु से उनके श्रवण करने का अवसर न मिले तो मनुष्य को धर्म और अधर्म के निश्चय के लिये क्या करना चाहिये ?

उत्तर—ऐसी दशा मे मनुष्य को सदाचार की ओर अपना ध्यान ले जाना चाहिये, अर्थात् सत्पुरुषों ने जिस २ व्यवहार को किया हो उसे धर्म समझना चाहिये तथा सत्पुरुषों ने जिस २ व्यवहार का परित्याग किया हो उसे अधर्म समझना चाहिये।

प्रश्न—धर्म और अधर्म के स्वरूप का निश्चय करने के विषय में यह तो आपने पहिले से भी अधिक कठिन उपाय बतलाया, क्योंकि सर्वसाधारण जन प्रथम तो सत्. और असत् का ही निश्चय नहीं कर सकते हैं, दूसरे यदि इस का निश्चय हो भी जावे तो उनके व्यवहार का निश्चय कैसे हो सकता है ?

उत्तर—मनुष्य को प्राकृतिक नियम के अनुसार बुद्धि और विवेक शक्ति प्राप्त है; उस के द्वारा वह यदि प्रयत्न करे तो लोक और परलोक के सब ही पदार्थों का निश्चय कर सकता है, तो फिर सत्पुरुष और असत्पुरुष का पहिचानना क्या कठिन बात है, इस के सिवाय किसी पुरुष का कोई भी व्यवहार छिपा नहीं रहता है अर्थात् प्रयत्न करने पर उसका भी निश्चय हो ही सकता है, बस पूर्वोक्त बुद्धि और विवेक शक्ति से सत्पुरुष और असत्पुरुष का निश्चय कर उनके आचार को क्रमशः धर्म और अधर्म समझना चाहिये।

प्रश्न—आपका पूर्वोक्त कथन यद्यपि ठीक है तथापि कृपया संक्षेप से सत्पुरुष और असत्पुरुष के विषय में एवं उनके आचार के विषय में कुछ विवेचन करें तो अच्छी बात है।

उत्तर—ठीक है, सुनो जो आप दुःख सहकर अथवा अपनी हानि कर दूसरों का उपकार और हित करते हैं, जो संसार, संसारवर्त्ती द्रव्य, पदार्थ और शरीर आदि को अनित्य और क्षण भङ्गुर जानकर उनमें

मोह और आसक्ति को नहीं करते हैं जो प्रतिदिन मृत्यु का भय रख कर उज्वल कीर्त्ति तथा परलोक सुख के लिये निर्दोष कर्म को करते हैं, जो काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य, इनको शत्रु के समान जान कर सदा उनसे पृथक् रहते हैं, जिनको परोपकार और परहित की चिन्ता दिन रात बनी रहती है, जो मान अपमान, निन्दा स्तुति तथा हानि लाभ को एक समान समझते हैं, जो मन, वचन और कर्म से हिंसा को भयक्कर राक्षसी के तुल्य जान कर सदा उससे बचे रहते हैं, जो मन और आत्मा को वश में रखने की चेष्टा में तत्पर रहते हैं, जो इन्द्रियों के रूपादि विषयों को बन्ध का हेतु जान उनके जाल में फँसने से सर्वदा बचे रहते हैं, जो धन और प्राण आदि सर्वस्व का भी नाश होने पर अपने कर्त्तव्य से कभी विमुख नहीं होते हैं, जो पर स्त्री को माता के तुल्य जानते हैं, जो देव गुरु और धर्म की भक्ति में सर्वदा तत्पर रहते हैं, जो सब प्राणियों को अपने समान देखते हैं, पर द्रव्य को तिनके के समान जानते हैं, जो दूसरे के थोड़े भी उपकार को बड़ा समझते हैं, जो दूसरों के दोषों की ओर दृष्टि न देकर गुणों पर दृष्टि देते हैं, जो दूसरों के दोषों को जन समाज में कभी प्रकट नहीं करते हैं, जो विद्या में अनुराग रख कर विद्वानों का मान करते हैं, जिनको स्वप्न में भी अभिमान स्पर्श नहीं करता है, जो सदा विनीत और नम्र रहते हैं, जो सर्वदा सब को अहित के परित्याग की और हित के ग्रहण की शिक्षा देते हैं, जो असत्य को सर्व पापों का मूल जान कर उसका मन, वचन और कर्म से परित्याग करते हैं, जो स्वामी की आज्ञा के बिना पर वस्तु का कभी ग्रहण नहीं करते हैं तथा जो सर्वदा मन और बुद्धि को स्वच्छ रखने वाले एवं शरीर का पोषण करने वाले सात्विक आहार और योग्य विहार का सेवन करते हैं, उनको सत्पुरुष कहते हैं तथा उनके व्यवहार को सदाचार कहते हैं और उसी का नाम धर्म है ।

(प्रश्न)—आपने सत्पुरुषों के लक्षणों का खूब वर्णन किया अब कृपा कर असत्पुरुषों के भी लक्षणों का वर्णन कीजिये।

(उत्तर)-सत्पुरुषो के जो लक्षण कहे गये हैं, उनसे विपरीत लक्षण असत्पुरुषों के जान लेने चाहियें, तथापि स्पष्टता के लिये कुछ लक्षणों का यहाँ पर उल्लेख किया जाता है—भगवान् के गुणगान से विमुख होना, दूसरों के कार्य में विघ्न डालाना, सत्पुरुषों से विना कारण द्वेष करना, विना प्रयोजन दूसरों के कार्य में विघ्न डालना, अपनी हानि करके भी दूसरों का अहित तथा हानि करना, गुणों का त्याग कर दूसरों के दोष का देखना वा उसे उघाड़ना, दूसरों के महत्व को सुनकर जलना, दूसरों की निन्दा को सुनकर अति प्रसन्न होना, कुव्यसनों में प्रेम रखना, पर धन हरण और पर स्त्री में लम्पट रहना, सबके लिये कटु वाक्यों का प्रयोग करना, कृतघ्न होना, सब विषयों में अपने को सब से अधिक समझना, दूसरों के साथ सर्वदा छल करने में तत्पर रहना, हिंसा, द्रोह, मद और मात्सर्य में तत्पर होना, भलाई के बदले में बुराई करना, लोक और परलोक का भय न करना, विना कारण सब से वैर करना, विना सोचे प्रत्येक कार्य को कर वैठना तथा सर्वदा अपने स्वार्थ की ओर ध्यान रहना, इत्यादि लक्षण असत्पुरुषों के कहे गये हैं, ऐसे लोगों का जो आचार है उसको असदाचार कहते हैं, और उसी का दूसरा नाम अधर्म है।

(प्रश्न)-धर्म और अधर्म के स्वरूप को जानने के लिए क्या इस से भी कोई सुगम उपाय है ?

(उत्तर)-हाँ सब से सुगम उपाय यह है कि अपने सम्बन्ध में दूसरों से किया जाता हुआ जो कार्य अपने को भला प्रतीत हो उसी का व्यवहार दूसरों के साथ भी करना चाहिये, उसी का नाम धर्म है, जैसे अपने सम्बन्ध में दूसरों से किया जाता हुआ- सत्य, नम्रता, क्षमा, अलोभ, कोमलता, चौर्य परित्याग, मृदुभाषण

और दानादि का व्यवहार सब को रुचता है, इसलिए मनुष्य को उचित है कि स्वयं भी दूसरों के साथ वैसा ही व्यवहार करे तथा अपने सम्बन्ध में दूसरों से किया जाता हुआ असत्य, धृष्टता,[१] क्रोध, लोभत्व, क्रूरता,[२] चोरी, कठोर भाषण (गाली आदि) और अनुचित ग्रहण आदि व्यवहार किसी मनुष्य को ,अच्छा नहीं लगता है इसलिए मनुष्य को उचित है कि ऐसे व्यवहारों को दूसरे के साथ भी कभी न करे, यह सर्व साधारण के लिए सीधा धर्म का मार्ग है।

(प्रश्न) कृपा कर अब शास्त्रीय विषय का भी निदर्शन कर धर्म और अधर्म के स्वरूप का वर्णन कीजिये।

(उत्तर) ठीक है, सुनो! प्रथम सर्व मतानुयायियों के लिए जैनेतर[३] शास्त्र से धर्म के लक्षण का कथन किया जाता है। पीछे जैन सिद्धान्त के अनुसार उन लक्षणों का विवेचन किया जावेगा, सर्व मतानुयायियों के माननीय परम प्रसिद्ध धर्म शास्त्र के बनाने वाले मनुजी ने-धैर्य, क्षमा, मन का निग्रह, चौर्य परित्याग, शुद्धि, इन्द्रियों का दमन, बुद्धि को निर्मल रखना तथा बढाना, विद्या का अभ्यास करना, सत्यभाषण करना तथा क्रोध का परित्याग करना, ये दश धर्म के लक्षण कहे हैं–इन लक्षणों का अति सक्षेप से कुछ विवरण यहां पर किया जाता है—विपत्ति अथवा कष्ट की दशा में भी चित्त को शान्त रखना अर्थात् उद्विग्न न होना तथा अपने कर्त्तव्य को न छोडना, धैर्य कहलाता है।

सहन शीलता का नाम क्षमा है।

मन में बुरे विकल्पों को उत्पन्न न होने देना, यदि उत्पन्न हो गये हों तो शीघ्र ही उनको दूर कर देना, मन को दुर्वासना से पृथक् रख कर तथा दुर्ध्यान का त्याग कर शुभ ध्यान में लगाना, इसको मनोनिग्रह कहते हैं।

१—ढिठाई। २—निदयता। ३—जैन से भिन्न।

दूसरे की किसी वस्तु का उसकी आज्ञा के विना अथवा वलात्कार से ग्रहण न करना, इसका नाम चौर्य परित्याग है।

शुद्धि दो प्रकार की है—वाहरी तथा भीतरी, वाहरी शुद्धि जल आदि के द्वारा होती है तथा भीतरी शुद्धि सत्य, सम्यक् ज्ञान, विद्या, तप तथा सद्भावना आदि से होती है।

पाँचों इन्द्रियों को अपने २ विषयों में अनुचित्त प्रवृत्ति से रोक कर उनको शुद्ध विचार के द्वारा उचित प्रवृत्ति में लगाना, इस का नाम इन्द्रिय दमन है।

निरन्तर शास्त्र के अभ्यास, स्थिरता, सत्संग, गुरुभक्ति तथा हित के उपदेश के श्रवण आदि के द्वारा वुद्धि की वृद्धि करना।

यथोचित समय तक ब्रह्मचर्य को रख कर तथा मन और इन्द्रियों को स्वाधीन रख कर योग्य सद्गुरु के द्वारा सत्य शास्त्रों का अभ्यास करना विद्याभ्यास कहलाता है।

श्रवण तथा अनुभव के द्वारा जो विषय मन में जिस प्रकार से स्थित हो उसको उसी प्रकार वाणी से कहना तथा करना, सत्य कहलाता है। क्रोध का हेतु होने पर भी क्रोध का न करना, क्रोध परित्याग कहलाता है।

मनुजी के कथित धर्म के पूर्वोक्त दश लक्षणों का यहाँ पर अति संक्षेप से स्वरूप मात्र लिखा गया है, इनका विस्तार-पूर्वक वर्णन अन्य धर्म शास्त्रों में देख लेना चाहिये।

राजर्षि भर्तृहरिजी ने अनेक शास्त्रों का मथन कर अपने वहुत समय के अनुभव से मनुष्य मात्र के लिये जो साधारण रीति से धर्म का मार्ग वतलाया है उसे भी हम पाठक जनों के लाभ के लिए लिखते हैं, उक्त महानुभाव ने कहा है कि:—

प्राणाघातान्निवृत्तिः परधनहरणे संयमः सत्यवाक्यम्।
काले शक्त्या प्रदानं युवतिजनकथामूकभावः परेषाम्॥

तृष्णा स्रोतो विभङ्गो गुरुषु च विनयः सर्वभूतानुकम्पा।
सामान्यः सर्वशास्त्रेष्वनुपहतविधिः श्रेयसामेष पन्थाः॥१

अर्थात्—प्राणिहिंसा से निवृत्त होना, दूसरे के धन को हरने से मन को रोकना, सत्य बोलना, उचित समय पर अपनी शक्ति के अनुसार दान देना, पर स्त्रियों में निरत न होना तथा उनसे अनुचित सम्भाषण आदि भी न करना, तृष्णा के स्रोत (प्रवाह) को रोकना, गुरुजनों में विनय रखना, तथा सब प्राणियों पर अनुकम्पा (दया) करना, सामान्यतया यही (मनुष्यमात्र के लिए) कल्याण का मार्ग है तथा इस आचरण के विधान का किसी शास्त्र में प्रतिषेध नहीं है ॥१॥

पाठकों के लाभ के लिए यहाँ पर पूर्वोक्त विषय का संक्षेप से विवेचन कर देना भी आवश्यक है—

इस संसार में प्राणिहिंसा मनुष्य को घोरतम नरक में गिराने का प्रधान कारण है, इसका सेवन करने वाला मनुष्य अति क्रूर स्वभाव होकर धर्ममार्ग पर चलने का अधिकारी भी नहीं रहता है, यह (प्राणिहिंसा रूपी) राक्षसी जिसके हृदयरूपी घर में निवास करती है वह मनुष्य भूताविष्ट के समान होकर उन्मत्तवत् हो जाता है, उसे कर्त्तव्याकर्त्तव्य का कुछ भी विवेक नहीं रहता है, वह पराहित और पर हानि में सदा तत्पर रहता है और वह अपने निकृष्ट व्यवहार से उभय लोक के सुख से परिभ्रष्ट हो जाता है, इसके सहस्रों उदाहरण आर्षग्रन्थों में वर्णित है।

जो मनुष्य पर धन का अपहरण कर सुख प्राप्ति की इच्छा करता है वह विवेकरहित है, क्योंकि न्याय से कमाया हुआ अपना द्रव्य ही मनुष्य को शान्ति पूर्वक सुख प्रदान कर सकता है, किञ्च— अन्याय से लिया हुआ दूसरे का द्रव्य कभी न तो पास में ही ठहरता है और न सन्तोष के साथ में मनुष्य के जीवन को व्यतीत होने देता है, इस विषय में अनेक चोर और डाकुओं के ऐतिहासिक उदाहरण

हैं, जिनका विस्तार के भय से उल्लेख नहीं किया जा सकता है, पर धन का अपहरण करने वाले मनुष्य की वृत्ति ऐसी लोलुप और कुसंस्कार युक्त हो जाती है कि जिसका कुछ ठिकाना ही नहीं है, बिना परिश्रम से उपलब्ध द्रव्य को पाकर मनुष्य प्रमादी हो कर अनेक व्यसनों में फँस जाता है और व्यसन ही मनुष्य के विनाश के मूल कारण हैं, आज तक किसी ने पर द्रव्यापहारी मनुष्य को सन्मार्गगामी देखा हो तो बतलावे, पर द्रव्यापहारी मनुष्य का हृदय व्यग्र, भीरु तथा सर्वदा व्याकुल रहता है; इसलिये परद्रव्यापहरण से मनुष्य को बचना चाहिये।

सत्य भाषण की महिमा को तो प्रायः सब ही जानते हैं इस लिये इसके विषय में विशेष लिखना अनावश्यक है, सच पूछो तो संसार में जितने अनर्थ, दुराचार और उपद्रव होते हैं वे सब असत्य के ही अवलम्ब से होते हैं, अर्थात् मनुष्य असत्यभाषण के ही बल से सब अनर्थों को करता है, असत्य भाषण का परित्याग कर देने से कोई मनुष्य किसी प्रकार के दुराचार को कदापि नहीं कर सकता है, इसीलिये महानुभावो ने कहा है कि "नहि सत्यात् परोधर्मो नानृतात् पातकम्परम्" अर्थात् सत्य से बढ़ कर कोई धर्म और असत्य से बढ़ कर कोई पातक नहीं है, संसार में सत्य ही एक ऐसा पदार्थ है कि जिसके सहारे से मनुष्य के लौकिक और पारलौकिक सब ही कार्य सिद्ध होते हैं, एक बार भी असत्य व्यवहार हो जाने से मनुष्य का सभ्य समाज में गौरव जाता रहता है और वह मनुष्य उसकी दृष्टि में तुच्छ गिना जाता है।

किसी धर्मजिज्ञासु पुरुष ने किसी महात्मा से यह पूछा कि महाराज! धर्म सेवन के द्वारा धर्मात्मा बनने के लिये सर्वोत्तम और सुगम उपाय कौनसा है?

उत्तर में महात्मा ने कहा कि—असत्य वचन का परित्याग कर देने से मनुष्य से अधर्माचरण कदापि नही होगा और वह सत्य के

बोलने से अपने कर्त्तव्य का पालन कर अर्थात् धर्माचरण के द्वारा सहज में धर्मात्मा बन सकता है, धर्मात्मा बनने के लिये इससे बढ़ कर और कोई सुगम उपाय नहीं है।"

सत्यभाषण का परित्याग कर मनुष्य को अपने एक असत्य व्यवहार को छिपाने के लिये सैकड़ों झूठ बनाने पड़ते हैं तो भी परिणाम में उसका वह झूठ प्रकट ही हो जाता है, जिस मनुष्य के हृदय में सत्य का निवास होता है उसमें स्वभावत ही सद्वासना और सत्प्रभाव की दैवी शक्ति विद्यमान रहती है और वह उससे कदापि अनुचित कर्म को नहीं होने देती है, कबीरदास जी ने इसी भाव को प्रकट करने के लिये कहा है कि—"जाके हिरदै साँच है ताके हिरदै आप।"

इतिहास और प्रत्यक्ष प्रमाण से यह बात सिद्ध है कि सत्यवादी पुरुष को दैवयोग से चाहे कितनी ही विपत्तियों का सामना क्यों न करना पड़े परन्तु परिणाम में उसका हित और सुयश ही होता है, क्योंकि महानुभावों का "साँच को आँच नहीं" यह अटल सिद्धान्त सृष्टिरूपी शिला पर अनादि काल से अङ्कित है और अविचल होने के कारण सर्वदा ऐसा ही बना रहेगा।

सत्य के इसी अमोघ प्रभाव को विचार कर पूर्वकाल में राजा हरिश्चन्द्र आदि ने अपने सर्वस्व का नाश होने पर भी सत्य को नहीं छोड़ा था और उसी सत्य के प्रभाव से परिणाम में उनका शुभ ही हुआ, राजा दशरथ ने प्राणप्रिय पुत्र को बनवास देने के कारण अकथनीय कष्ट का सहन किया तथा प्राणों का भी परित्याग किया परन्तु अपने वचन को भङ्ग नहीं होने दिया, सत्य है—"रघुकुल रीति यही चलि आई, प्राण जायँ पर वचन न जाई" सच पूछो तो वचन भङ्ग की अपेक्षा मनुष्य का मरना ही अच्छा है। सत्य बोलने के विषय में मनुष्य को मनुजी के इस वाक्य का अवश्य स्मरण रखना चाहिए कि—

सत्यं ब्रूयात् प्रियंब्रूयात् न ब्रूयात्सत्यमप्रियम् ॥
प्रियञ्च नानृतं ब्रूयादेषधर्मः सनातनः ॥ १ ॥

अर्थात् मनुष्य को उचित है कि सत्य बोले तथा प्रिय बोले; सत्य होने पर भी अप्रिय वचन को न बोले तथा प्रिय होने पर भी असत्य वचन को न बोले, यह सनातन धर्म है ॥ १ ॥

तात्पर्य यह है कि प्रत्येक मनुष्य को सर्वदा सत्य और प्रियवचन को बोलना चाहिये, सत्य होने पर भी अप्रिय वचन को नहीं बोलना चाहिये जैसे अन्धे को अन्धा कहना तथा काने को काना कहना इत्यादि तथा प्रिय होने पर भी यदि असत्य हो तो उसे भी नहीं बोलना चाहिये जैसे कि प्रायः स्वार्थी लोग धनिकों के पास बैठ कर हाँ में हाँ मिलाया करते हैं।

सत्य भाषण के विषय में इतना और भी ध्यान में रखना चाहिये कि वास्तव में सत्य वही है जो कि प्राणियों के लिये हितकारक है, जैसा कि कहा है कि—"सत्यं हितद् भूतहितंय देव"। इसलिये प्रत्यक्ष में अप्रिय होने पर भी यदि परिणाम में हितकारक हो तो ऐसे वचन को बोलना चाहिये, क्योंकि नीति शास्त्र का वाक्य है कि "अप्रियस्यच पथ्ययस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः" अर्थात् प्रत्यक्ष में अप्रिय परंतु परिणाम में हितकारक वचन का कहने वाला तथा सुनने वाला पुरुष दुर्लभ होता है, देखो! अप्रिय होने पर भी वैद्य रोगी को परिणाम में में हित करने वाली कड़ुई औषधि को पिलाता ही है, पूर्वोक्त वाक्य से यह भी सिद्ध होता है कि जिस सत्यभाषण से घोर अनर्थ हो अथवा प्राणि हिंसा हो अथवा निष्प्रयोजन अतिशय हानि की संभावना हो ऐसे सत्य वचन को भी नहीं बोलना चाहिये, जैसे कोई गाय कसाई के भय से भाग गई हो, उसे किसी ने भागते समय देखा हो तथा कसाई गाय की खोज करता है हुआ उससे पूंछे कि "तुमने गाय को देखा है किधर गई" तो ऐसे समय पर मनुष्य को सत्यभाषण का भी

परित्याग कर देना चाहिये, क्योंकि यदि सत्यभाषण किया जावे तो महानर्थकारिणी हिंसा हो, ऐसे समयों में या तो मनुष्य को मौन धारण कर लेना चाहिये अथवा युक्ति से ऐसा उत्तर देना चाहिये कि जो झूठ भी न हो तथा अनर्थ भी न होने पावे, जैसे यह कह देना चाहिये कि—"भाई! जिसने देखा है वह तो कह नहीं सकता है और जो कह सकता है उसने देखा नहीं है" इत्यादि बात को समयानुसार कह कर होने वाले अनर्थ को रोकना चाहिये, क्योंकि ऐसा कहने पर असत्य भाषण का भी दोष नहीं लगता है तथा अनर्थ भी रुक जाता है, बुद्धिमान जनों ने इसी सिद्धान्त को स्थिर किया है कि महानर्थकारी सत्य भी किसी काम का नहीं है, ठीक भी है कि जिस सत्य से ब्रह्महत्या और गोहत्या आदि प्राणिहिंसा होती हो, जिस सत्य से कुलाङ्गनाओं का सतीत्व जाता हो, जिस सत्य से देश, ग्राम, नगर, यद्वा कुल आदि का विध्वंस होता हो, जिस सत्य से असंख्य प्राणियों के विनाश की सम्भावना हो, ऐसे सत्य को भी छोड़ देना चाहिये, क्योंकि सत्य भाषण हित की अपेक्षा रखता है।

समय पर यथाशक्ति दान करना रूप जो कल्याणमार्ग कहा गया है इसके विषय में इतना ही लिखना पर्याप्त होगा कि देश, काल और पात्र का विचार कर इसका प्रयोग करना चाहिये कि जिससे शास्त्रीय मर्यादा का उल्लंघन न हो।

परस्त्रियों में आसक्ति न करना तथा उनसे अनुचित सम्भाषण न करना भी भर्तृहरि जी ने जो कल्याणमार्ग बतलाया है सो भी बहुत ठीक है, क्योंकि परस्त्री की अभिलाषा भी मनुष्य के नाश के लिये पर्याप्त होती है, रावण आदि अनेक जन इसके उदाहरण रूप हैं, इस अनुचित व्यवहार से उभय कुल कलङ्कित होते हैं तथा कालान्तर में विनष्ट हो जाते हैं, इस शोचनीय तथा निन्द्य व्यवहार से वर्णसंकर सन्तति उत्पन्न हो कर कुल के लिये नरक का द्वार खोल देती है

वर्ण संकर सन्तति विधिपूर्वक धर्म सेवन की अनधिकारिणी होती है, इन निन्द्य व्यवहार से शरीर की क्षीणता, धन नाश, बुद्धि की मलीनता, दाम्पत्य-प्रेम नाश, वर्णसंकरत्व, धर्मभ्रंश, असदाचार प्रवृत्ति, प्राणिहिंसा और वैमनस्य आदि कितने बड़े २ अनर्थ उत्पन्न होते हैं; इसका कुछ ठिकाना नहीं है, इसी निन्द्य व्यवहार से पूर्वकाल में बड़े २ ऐश्वर्यशाली तो क्या किन्तु बड़े २ शहनशाह भी इस व्यवहार की विलासप्रियता में निमग्न हो कर बुद्बुदवत् विलीन हो गये, सच पूछो तो यह निन्द्य व्यवहार चारों वर्णों और चारों आश्रमों की जड़ को उखाड़ने के लिये कुठार के समान है, इसलिये समझदार पुरुष को उचित है कि इस निन्द्य व्यवहार से सर्वदा पृथक् रहे।

तृष्णा के प्रवाह को रोकना भी एक कल्याण मार्ग कहा गया है, यह भी बिलकुल ठीक है, यह तृष्णा ही लोभ को उत्पन्न करती है तथा लोभ ही सब पापों का पैदा करने वाला है, यह तृष्णा जिस मनुष्य के हृदय में अड्डा जमा लेती है उसे सन्तोषजन्य अमृत सुख कदापि प्राप्त नहीं होता है; किन्तु वह लोभासक्त होकर सर्वथा विनष्ट हो जाता है, यह तृष्णा ही मनुष्य को कठपुतली के समान ऐसे नाच नचाती है कि जिन का कुछ ठिकाना नही है। तृष्णाग्रस्त मनुष्य उन्मत्त के समान इधर उधर भटकता फिरता है तथा उसे शान्ति सुख कदापि प्राप्त नहीं होता है, तृष्णा रूपी एक ऐसी प्रबल अग्नि है कि सब कुछ जला कर भी यह शान्ति नहीं होती है, किन्तु दिन रात धधकती ही रहती है, मनुष्य का शरीर जीर्ण होजाता है, वृद्धावस्था आजाती है, सब इन्द्रियाँ भी शिथिल होजाती हैं परन्तु यह तृष्णा तो तरुण ही बनी रहती है, आश्चर्य तो यह है कि यह तृष्णा रूपी एक ऐसा गहरा खड्डा है कि इस की पूर्ति कदापि नही होती है, किञ्च-इस कथन में भी अत्युक्ति नहीं होगी कि इस गड्ढे को ज्यों २ भरते जाओ त्यों २ उसमें और अवकाश होता जाता है। तृष्णाग्रस्त मनुष्य लोभपाश में बँध कर भ्रष्ट बुद्धि हो जाता है।

और बुद्धि का भ्रश होने से परिणाम में मनुष्य का नाश हो जाता है, अतएव तृष्णा के प्रभाव को रोकना चाहिये।

गुरुजनों का विनय करना भी कल्याण का मार्ग बतलाया गया है, यह वास्तव में ठीक है, क्योंकि गुरुजनों का विनय करने से मनुष्य में पात्रता (योग्यता) आती है और पात्रता के होने पर सब गुण तथा सम्पत्तिया स्वयमेव मनुष्य के पास आ जाती हैं, कहा भी है कि—

नोदन्वानर्थितामेति, नचाम्भोभिर्नपूर्यते ।
आत्मा तु पात्रतां नेयः, पात्रमायान्ति सम्पदः ॥१॥

अर्थात् समुद्र याचना नहीं करता है तथापि वह जलों से न भरा जाता हो यह बात नहीं है (अर्थात् जल उसको अवश्य ही पूर्ण करते हैं) अपने को पात्र बनाना चाहिये, पात्र के पास सम्पत्तिया स्वयमेव आ जाती हैं ॥१॥

गुरुजनों का विनय करने से मनुष्य की बुद्धि निर्मल रहती है, मन शुभ सङ्कल्प युक्त होता है, हृदय में सद्वासना की जागृति होती है, देव गुरु और धर्म में भक्ति का अंकुर उत्पन्न होता है, सद्गुणों के उपार्जन की अभिलाषा होती है, आत्मा के कल्याण के लिये अभिरुचि का विकास होता है, पाप कर्मों से भय लगता है और इन्हीं प्रशसनीय गुणों के द्वारा परिणाम में मनुष्य का कल्याण होता है।

प्रत्येक सद्गुण की प्राप्ति मनुष्य को दूसरे के उपदेश से अथवा दूसरे के सदाचार को देख कर होती है तथा उसका मूल साधन विनय ही है, इसीलिये मनुष्य को अपने कल्याण के लिये गुरुजनों का विनय अवश्य करना चाहिये।

कल्याण मार्ग का अन्तिम अङ्ग सब प्राणियों पर दया करना बतलाया है इसके महत्त्व का वर्णन करना वाणी और लेखनी की शक्ति से बाहर है, सच पूछो तो मनुष्य की सद्बुद्धि, सद्विवेक और

अर्थात्—मनुष्य के लिये धर्म ही उत्कृष्ट मङ्गल रूप है और वह (धर्म) अहिंसा; संयम और तप रूप है, जिसका मन धर्म में सदा तत्पर रहता है; उसको देव भी नमस्कार करते हैं ॥१॥

देखो ! मनुजी के कहे हुए धैर्य, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, बुद्धि, विद्या, सत्य और अक्रोध, इन दश लक्षणों में से क्षमा और अक्रोध का समावेश अहिंसा मे हो जाता है, दम, अस्तेय, इन्द्रिय निग्रह और बुद्धि का समावेश संयम में हो जाता है तथा धैर्य, शौच, विद्या और सत्य का समावेश तप में हो जाता है, इसी प्रकार भर्तृहरि जी के कहे हुए–पूर्वोक्त आठों अङ्गों में से–प्राणिहिंसा से निवृत्ति, दान और सर्वभूतानुकम्पा, इन तीन अङ्गो का समावेश अहिंसा में हो जाता है, परधन हरण त्याग, पर स्त्रियों में अनासक्ति तथा तृष्णा के प्रवाह का रोकना, इन तीन अंगों का समावेश संयम में में हो जाता है तथा सत्य भाषण और गुरुजन विनय, इन दो लक्षणों का समावेश तप में हो जाता है, इन पूर्वोक्त लक्षणों तथा अंगों का समावेश अहिंसा आदि तीनों लक्षणों में किस प्रकार से होता है इस विषय की विवेचना बुद्धिमान् जन स्वयं कर सकते हैं, विस्तार के भय से यहां पर उक्त विषय का उल्लेख नही किया जाता है। मनुजी के कहे हुए धैर्य आदि दश लक्षणों का तथा भर्तृहरिजी के कहे हुए प्राणि हिंसा निवृत्ति आदि आठों अङ्गों का विवेचन अभी संक्षेप से किया जा चुका है, यद्यपि किये हुए पूर्व विवेचन से ही जैन शास्त्रोक्त अहिंसा आदि तीनों लक्षणों का भी विवेचन एक प्रकार से हो जाता है तथापि पाठक जनों के लाभ के लिये अति संक्षेप में उक्त तीनों लक्षणों का दिग्दर्शन मात्र यहां पर किया जाता है:—

१—मन वचन और कर्म से किसी प्राणी के साथ द्रोह और वैर को न करना, किसी के अनिष्ट को मन, वचन और शरीर के द्वारा न करना तथा निरपराध किसी जीव का प्राण हरण न करना, इसका नाम अहिसा है।

२—दशों इन्द्रियों तथा मन को बुरी प्रवृत्ति और बुरे विषयों से हटा कर स्थिर तथा शांत करना, उनके वेग को रोकना तथा शुभ और कल्याणकारी विषयों में उन्हें प्रवृत्त करना, इसको सयम कहते हैं।

३—शीत उष्ण, सुख दु ख, भूख प्यास, मान अपमान तथा कीर्ति निन्दा, इत्यादि द्वन्द्वों का सहन करके भी अपने कर्त्तव्य अर्थात् धर्म का परित्याग न करना, इसका नाम तप है।

इनमें से अहिंसा के सेवन से सब प्राणी मनुष्य के अनुकूल बन जाते हैं अर्थात् कोई भी उसके साथ वैर विरोध वा विरुद्धाचरण नहीं करता है, ऐसी दशा में किसी के द्वारा भी उसे किसी प्रकार का कष्ट नहीं पहुचता है तथा वह सब प्राणियों को अपने तुल्य देखता है और सब प्राणी भी उसे अपने तुल्य देखते हैं तथा उससे सब प्राणियों का उपकार होता है और सब प्राणी उसका उपकार करते हैं किन्तु जो मनुष्य इस अहिंसा देवी की उपासना नहीं करता है वह दोनों लोकों में दुःख का भागी होता है।

सयम के बिना मनुष्य किसी कार्य के योग्य ही नहीं बन सकता है, देखो। जिसका मन चचल और विषयों में आसक्त होता है वह मनुष्य प्रतिदिन असत् कर्मों के सेवन के द्वारा अधोदशा को प्राप्त होता जाता है, मन की चचलता उन्माद वा भूत के समान मनुष्य पर सवार होकर उसे विवेकरहित कर देती है, फिर उसकी शुभ कार्य में कदापि प्रवृत्ति नहीं होती है, यह मन का निग्रह, अभ्यास और वैराग्य के द्वारा ही सकता है इसी प्रकार जब मनुष्य की इन्द्रियाँ स्वाधीन अर्थात् वश में न रह कर विषयों में आसक्त होती हैं तो मनुष्य विषय लम्पट होकर विनष्ट हो जाता है, यह इन्द्रिय समूह ऐसा बलवान् है कि विद्वान् और विवेकी मनुष्य की भी विवेक शक्ति को अवसर पाकर समूल नष्ट कर देता है, शास्त्रकारों ने कहा है कि श्रोत्र इन्द्रिय के विषय में आसक्त होकर मृग अपने प्राणों को खो देता है, स्पर्शेन्द्रिय के विषय में

फंस कर मदोन्मत्त हाथी बन्धन को पाता है, नेत्र इन्द्रिय के विषय से संलीन होकर पतंग दीवे पर गिर कर अपने प्राणों को न्यौछावर करता है, जिह्वा इन्द्रिय के विषय में फँस कर मछली अपने प्राणों का परित्याग करती है तथा नासिका इन्द्रिय के विषय में फँस कर भौंरा प्राणविहीन हो जाता है, इस प्रकार एक एक इन्द्रिय के विषय में भी फँस कर जब उक्त जीव अपने प्राणों को गँवाते हैं तो मनुष्य के पास तो उक्त पांचों इन्द्रियां विद्यमान हैं; उसे तो अत्यन्त ही सावधान रहना चाहिये ।

तीसरा अङ्ग तप कहा गया है—इसके विषय में भी यह जान लेना चाहिये कि जो मनुष्य सुख और दुःख आदि द्वन्द्वों का सहन करके भी अपने कर्त्तव्य को नही छोड़ता है; वही दोनों लोको के सुखों का अधिकारी होता है; किन्तु जो पुरुष मानापमानादि द्वन्द्वों का सहन न कर अपने कर्त्तव्य से विमुख हो जाता है वह अपने जीवन की सफलता को सर्वथा विनष्ट कर देता है, देखिये ! श्री रामचन्द्रजी, राजा हरिश्चन्द्र जी तथा पाण्डव आदि महानुभावों ने कितने कष्ट सहे परन्तु वे अपने कर्त्तव्य से तनिक भी नहीं डिगे, डिगते कैसे ? उनके हृदय पटल पर तो यह वाक्य अङ्कित हो रहा था कि:—

निन्दन्तु नीति निपुणा यदि वा स्तुवन्तु ।
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम् ॥
अद्यैव वा मरण मस्तु युगान्तरे वा ।
न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः ॥१॥

अर्थात्—नीति के जानने वाले पुरुष चाहे निन्दा करें चाहें स्तुति करें, लक्ष्मी चाहें अपनी इच्छा के अनुसार चली जावे, चाहें आज ही मरण हो जावे, चाहें वह युगान्तर में हो; परन्तु धीर पुरुष न्याय के मार्ग से एक पैर भी नहीं हटते हैं ॥१॥

इसी लिये तो शास्त्रकारों का तथा महानुभावों का कथन है कि "प्राणों का परित्याग होने पर भी धर्म को नहीं छोड़ना चाहिये" कहने में अत्युक्ति न होगी कि जो तपस्वी महानुभाव होते हैं वे विपत्ति समय में पूर्वापेक्षा और भी अधिक उत्साह से धर्म का पालन करते हैं, सत्य है कपूर अग्नि में जलाने के समय तथा चदन रगड़ने के समय और भी अधिक सुगधि देता है।

पूर्वोक्त सर्व विषय का विचार कर प्रत्येक मनुष्य को अपने जीवन की सफलता के लिये अर्थात् दोनों लोकों के सुखों की प्राप्ति के लिये—सद्गुरु के उपदेश के द्वारा धर्म के अहिंसा आदि तीनों अङ्गों के स्वरूप, फल और महत्त्व को जान कर निरन्तर उनका सेवन करना चाहिये, क्योंकि कर्त्तव्य पालन अर्थात् धर्माचरण में ही एक ऐसी शक्ति है कि वह प्राणियों को दुर्गति से हटा कर शुभस्थान में स्थापित करता है कि जिसमें प्राणियों को निरंतर शान्ति-सुख और परमानन्द की प्राप्ति होती है।

५—नवपदार्थ-स्वरूप।

तत्त्वों के यथार्थ परिज्ञान के विना मनुष्य की प्रवृत्ति या निवृत्ति नहीं हो सकती है, क्योंकि जिस वस्तु का स्वरूप वा उसके गुण दोष ही विदित न हों उसमें प्रवृत्ति और निवृत्ति कैसे हो सकती है ? इस लिये तत्त्वों के परिज्ञान की अत्यन्त आवश्यकता है।

शास्त्रों में पूर्वाचार्यों ने जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष, इन नौ तत्त्वों का कथन[1] किया है तथा इन का विस्तारपूर्वक वर्णन भी विभिन्न शास्त्रों में किया गया है, इन नौओं तत्त्वों का विषय अति गूढ़ तथा बुद्धिगम्य है, यहा पर पाठक जनों के लाभ के लिये इनका अति सरल रीति से संक्षेप में वर्णन किया जाता है।

१—किन्हीं आचार्यों ने पुण्य और पाप को छोड़ कर सात ही तत्त्व माने हैं—अर्थात् उन्होंने पुण्य का संवर में तथा पाप को आश्रव के अन्तर्गत माना है।

१—व्यवहार नय के द्वारा जो शुभाशुभ कर्मों का कर्त्ता तथा उनके फल का भोक्ता है उसे जीव माना है तथा निश्चय नय के द्वारा जो ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप अपने गुणों का ही कर्त्ता और भोक्ता है उसे जीव कहा गया है; अथवा सुख दुःख ज्ञानोपयोग रूप लक्षण युक्त तथा चेतनावान् होकर जो प्राणधारण करता है उसे जीव कहते हैं। सब जीवो का श्रुत ज्ञान का अनन्ततम भाग नित्य उघड़ा रहता है; इसलिये चेतनारूप लक्षण की अपेक्षा जीव तत्त्व एक प्रकार का है, [1]त्रस और [2]स्थावर की अपेक्षा जीव तत्त्व दो प्रकार का है, वेद की अपेक्षा जीव तत्त्व तीन प्रकार का है—स्त्री वेद, पुरुष वेद और नपुंसक वेद, गति की अपेक्षा जीवतत्त्व चार प्रकार का है—देवगति, मनुष्यगति, तिर्यग्गति और नरकगति, इन्द्रिय की अपेक्षा जीवतत्त्व पांच प्रकार का है, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय त्रिन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय तथा काय की अपेक्षा जीवतत्त्व छः प्रकार का है—पृथिवीकाय, अप्काय, तेजःकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय।

एकेन्द्रिय के सूक्ष्म और वादर, ये दो भेद हैं, इन में से सूक्ष्म एकेन्द्रिय वे हैं जो कि चौदह रज्जुलोक में व्याप्त हैं, पर्वत आदि का भेद कर गमनागमन करते हैं, किसी वस्तु से उन का छेदन-भेदन नहीं हो सकता है, अग्नि उनको जला नहीं सकती है; वे चर्मदृष्टि से दीख नही पड़ते हैं, वे मनुष्यादि किसी प्राणी के उपयोग में नहीं आते हैं, अदृश्य तथा [3]निरतिशय सूक्ष्म नाम कर्मोदयसे युक्त होते हैं; वादर एकेन्द्रिय उन्हें कहते हैं जो नियत स्थानवर्त्ती हैं, परन्तु किसी वस्तु का भेदन नहीं कर सकते हैं, हां उनका छेदन और भेदन दूसरी वस्तु से हो सकता है, उन्हें अग्नि जला सकती है, जो चर्मदृष्टि से दीख पड़ते हैं, जो सर्व मनुष्यादि प्राणियों के

१—चलनादि शक्ति से युक्त। २—स्थिरता से युक्त। ३—अतिशय से रहित।

उपयोग में आ सकते हैं तथा जो द्रव्य और सातिशय[1] बादर नामकर्मोदय से युक्त होते हैं, पञ्चेन्द्रिय जीवों के दो भेद हैं—सञ्ज्ञी और असञ्ज्ञी, मन सञ्ज्ञा वालों को सञ्ज्ञी तथा मन सञ्ज्ञा से रहित जीवों को असञ्ज्ञी कहते हैं, इनके साथ में द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, और चतुरिन्द्रिय, इनका योग करने से जीवों के सात भेद होते हैं, पर्याप्त और अपर्याप्त इन दो का योग होने से जीव तत्त्व के १४ भेद होते हैं, परन्तु किन्हीं आचार्यों ने जीवतत्त्व के ३२ भद माने हैं, तद्यथा-पाच सूक्ष्म स्थावर, पाच बादर स्थावर, प्रत्येक वनस्पति काय, सञ्ज्ञी पञ्चेन्द्रिय, असञ्ज्ञी पञ्चेन्द्रिय और विकलत्रिक, इस प्रकार १६ भेद हुए, पर्याप्त और अपर्याप्त इन दो भेदों के साथ में इनका योग करने से ३२ भेद होते हैं। इसके अतिरिक्त अवान्तर सर्व भेदों की अपेक्षा से जीव तत्त्व के ५६३ भेद हैं। ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य और उपयोग, ये छ गुण जिसमें विद्यमान हों उसे जीव कहते हैं अर्थात् यही जीव का लक्षण है, ज्ञान के पाच भेद हैं—मति, श्रुत, अवधि, मन पर्य्याय और केवल, ये पाच ज्ञान सम्यक्त्वी के होते हैं और मत्यज्ञान, श्रुताज्ञान तथा विभङ्ग, ये तीन अज्ञान मिथ्यात्वी के होते हैं, दर्शन चार प्रकार का है, चक्षुर्दर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधि दर्शन और केवल दर्शन, चारित्र सात प्रकार का है—सामायिक, छेदोपस्थापनीय, परिहार विशुद्धिक, सूक्ष्म सम्पराय, यथाख्यात, देशविरति और अविरति, तप के द्रव्य और भाव की अपेक्षा दो भेद हैं, वीर्य के दो भेद हैं—करण और लब्धि, तथा उपयोग के बारह भेद हैं—पाँच ज्ञान विषयक, तीन अज्ञान विषयक तथा चार दर्शन विषयक। पुद्गलों के उपचय से उत्पन्न हुआ जो पुद्गलों के परिणाम का हेतु शक्ति विशेष है उसको पर्याप्ति कहते हैं। इस पर्याप्ति से युक्त जीवों को पर्याप्त कहते हैं। उनके दो भेद हैं—लब्धि पर्याप्त और करण पर्याप्त, इनमें से—कर्म के उदय से आरम्भ की हुई

१—अतिशय के सहित।

स्वयोग्य पर्याप्ति को सर्वथा जिन्होंने पूर्ण नहीं किया है परन्तु आगे करेंगे उनको लब्धि पर्याप्त कहते हैं तथा जिन्होंने स्वयोग्य पर्याप्ति को सर्वथा पूर्ण कर लिया है उनको करण पर्याप्त कहते हैं, पर्याप्ति से रहित जीवों को अपर्याप्त कहते हैं, इनके भी दो भेद हैं—लब्ध्य पर्याप्त तथा करणापर्याप्त, इनमें से जो आरम्भ की हुई स्वयोग्य पर्याप्ति को पूर्ण नही करते हैं उनको लब्ध्य पर्याप्त कहते हैं तथा जो स्वयोग्य पर्याप्ति को आगे पूरी करेंगे परन्तु अभी तक उसे पूर्ण नहीं किया है उनको कारण पर्याप्त कहते हैं, वैक्रिय शरीर के एक शरीर पर्याप्ति अन्तर्मुहूर्त्त की होती है, शेष पाँच पर्याप्तियाँ एक समय की होती हैं औदारिक शरीर के आहार पर्याप्ति एक समय की होती है तथा शेष पर्याप्तियां अन्तर्मुहूर्त्त की होती हैं, उत्पत्ति समय में इन सब पर्याप्तियों का सब ही जीव यथा-योग्य आरम्भ करते हैं, परन्तु उन्हें पूरा तो अनुक्रम से करते हैं, पर्याप्तियाँ छः प्रकार की हैं–आहार पर्याप्ति, शरीर पर्याप्ति, इन्द्रियपर्याप्ति श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति, भाषा पर्याप्ति और मनः पर्याप्ति, प्रत्येक जीव भवान्तरमें उत्पत्तिके समय जिस शक्ति के द्वारा आहार को लेकर उसको रस-रूप में परिणत करता है उसको आहार पर्याप्ति कहते हैं, रस रूप में परिणत आहार की जिस शक्ति विशेष के द्वारा रस, रुधिर, माँस, मेद, अस्थि, मज्जा और वीर्य, इन सात धातुओं के रूप में परिणत करता है उसको शरीर पर्याप्ति कहते हैं, सात धातुओं के रूप में परिणत रस को जिस शक्ति विशेष के द्वारा इन्द्रिय रूप में परिणत करता है उसको इन्द्रिय पर्याप्ति कहते हैं, इन तीन पर्याप्तियों को पूर्ण किये विना कोई जीव मरण को प्राप्त नहीं होता है। इन तीनों पर्याप्तियों को बाँध कर पीछे श्वासोच्छ्वास के योग्य वर्गणादलिक को लेकर जिस शक्ति विशेष के द्वारा उसे श्वासोच्छ्वास रूप में परिणत करता है उसे श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति कहते हैं, भाषा के योग्य पुद्गलों को लेकर जिस शक्ति विशेष के द्वारा उन्हें भाषा रूप में परिणत करता है उसे भाषा पर्याप्ति कहते हैं तथा मनोवर्गणा योग्य पुद्गलों को लेकर जिस शक्ति

विशेष के द्वारा उन्हें मनो रूप में परिणत करता है उसे मन पर्याप्ति कहते हैं, इनमें से—आहार पर्याप्ति, शरीर पर्याप्ति, इन्द्रिय पर्याप्ति तथा श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति, ये चार पर्याप्तियाँ एकेन्द्रिय जीव के होती हैं, पूर्वोक्त चार पर्याप्तियाँ तथा पाँचवीं भाषा पर्याप्ति, ये पाँच पर्याप्तियाँ द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवों के होती हैं तथा ये ही पाँचों पर्याप्तियाँ असञ्ज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवों के होती हैं तथा पूर्वोक्त छ हों पर्याप्तियाँ सञ्ज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवों के होती हैं। श्रोत्र, त्वक्, नेत्र, जिह्वा और नासिका, ये पाँच इन्द्रिया हैं, मनोबल, वचनबल तथा कायबल, ये तीन बल हैं—श्वासोच्छ्वास तथा आयु, ये दश प्राण नाम से प्रसिद्ध हैं।

इन में स्पर्शेन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, कायबल और आयु, ये चार प्राण एकेन्द्रिय के होते हैं, पूर्वोक्त चार प्राण तथा रसनेन्द्रिय और वचन बल ये छ प्राण द्वीन्द्रिय के होते हैं पूर्वोक्त छ प्राण तथा घ्राणेन्द्रिय, ये सात प्राण त्रीन्द्रिय के होते हैं, पूर्वोक्त सात प्राण तथा नेत्रेन्द्रिय, ये आठ प्राण चतुरिन्द्रिय के होते हैं, पूर्वोक्त आठ प्राण तथा श्रोत्रेन्द्रिय, ये नौ प्राण सम्मूर्छिम मनुष्य, सम्मूर्छिम तिर्यग् असञ्ज्ञी सम्मूर्छिम, पञ्चेन्द्रिय के होते हैं, सम्मूर्छिम जीव दो प्रकार के होते है—सम्मूर्छिम मनुष्य तथा सम्मूर्छिमतिर्यग्, इन में से सम्मूर्छिमतिर्यग् के पूर्वोक्त नौ प्राण होते हैं, यह नियम है, परन्तु सम्मूर्छिम मनुष्य के वचन बल न होने के कारण आठ ही प्राण होते हैं, उसमें भी श्वासोच्छ्वासपर्याप्ति को बाँधता हुआ यदि मृत्यु को प्राप्त हो तो सात ही प्राण रहते हैं, पूर्वोक्त नौ प्राण तथा मनोबल, ये दश प्राण सञ्ज्ञी पञ्चेन्द्रिय के होते हैं, इन पूर्वोक्त दशों प्राणों को द्रव्य प्राण जानना चाहिये, तथा आत्मा के जो ज्ञानादि गुण हैं उन्हें भावप्राण जानना चाहिये॥

(प्रश्न) आपने जीवन तत्त्व का विवेचन अच्छे प्रकार से किया, अब कृपाकर के "जीव" शब्द के अर्थ का वर्णन कर उसका कुछ विवेचन और कीजिये।

(उत्तर) जो प्राण धारण करता है उसे जीव कहते हैं, तात्पर्य यह है कि जो मिथ्यात्त्वादि से कलुषित होकर वेदनीय आदि कर्मों का सम्पादन करता है और उनके फल सुख और दुःख आदि का उपभोग करता है, कर्मों के विपाक के उदय के अनुसार नारक आदि भवों में गमन करता है तथा सम्यग् दर्शन आदि तीन रत्नों के अभ्यास का प्रकर्ष होने से समस्त कर्म भाग के दूर हो जाने से निर्वाण को प्राप्त होता है उसे जीव कहते हैं; इसी का दूसरा नाम आत्मा है, कहा भी है—

यः कर्त्ता कर्मभेदानां, भोक्ता कर्मफलस्य च ॥
संसर्ता परि निर्वाता, सत्यात्मा नान्यलक्षणः ॥ १ ॥

अर्थात् जो सब प्रकार के कर्मों को करता है, कर्मफल का भोग करता है (वेदनीयादि कर्मविपाकोदय के अनुसार नारकादि भावों में) गमन करता है तथा (कर्मांश के दूर होजाने से) निर्वाण को प्राप्त होता है, वही आत्मा है. आत्मा का दूसरा लक्षण नहीं है ॥१॥

(प्रश्न) जीव की सिद्धि किस प्रमाण से होती है ?

(उत्तर) देखो ! प्रत्येक प्राणी में अपने अनुभव रूप प्रमाण से सिद्ध जो यह चैतन्य धर्म दीखता है, यदि जीव न हो तो वह चैतन्य कहां से हो।

(प्रश्न) उस चैतन्य को यदि भूतों का धर्म माना जावे तो क्या हानि है ?

उत्तर—वाह, चैतन्य भूतों का धर्म कदापि नहीं हो सकता है, यदि इसे भूतों का धर्म माना जावे तो पृथ्वी के काठिन्य धर्म के समान इस (चैतन्य) की भी सर्वत्र और सर्वदा उपलब्धि होनी चाहिये, परन्तु सर्वत्र और सर्वदा इसकी उपलब्धि नहीं होती है क्योंकि लोष्ट आदि में तथा मृतावस्था में भूतों के होने पर भी चैतन्य नहीं दीख पड़ता है, फिर हम तुमसे यह पूछते हैं कि चैतन्य को तुम प्रत्येक भूत का (पृथक् २) धर्म मानते हो, अथवा भूत समुदाय का धर्म मानते हो ? यदि उसे

प्रत्येक भूत का धर्म मानो तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि यह बात देखी नहीं जाती है, देखो। प्रत्येक परमाणु में चैतन्य नहीं दीख पड़ता है, किंच-यदि प्रत्येक परमाणु में चैतन्य हो तो वह विभिन्न स्वभाव वाला होना चाहिये जैसे कि सहस्र पुरुषों का चैतन्यसमूह भिन्न स्वभाव वाला होता है, वह एक रूप नहीं हो सकता है, परन्तु एक रूप का देखा जाता है, क्योंकि "मैं करता हूँ" "मैं देखता हूँ" इस प्रकार सर्व शरीरों में अधिष्ठाता रूप एक रूपता के द्वारा उसका अनुभव होता है, अत यदि उस चैतन्य को भूत समुदाय का धर्म मानो तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि प्रत्येक में न होने से वह समुदाय का धर्म कैसे हो सकता है? देखो। जो प्रत्येक में नहीं होता है वह समुदाय में भी नहीं होता है, जैसे एक रेणु में तैल न होने से रेणु समुदाय मे भी नहीं होता है।

प्रश्न—आपका यह कथन तो ठीक नहीं मालूम होता है कि जो प्रत्येक में नहीं होता वह समुदाय में भी नहीं होता, देखिये—मद्य के अङ्गों में प्रत्येक में मदशक्ति नहीं दीख पड़ती है तथापि समुदाय में होती है, इसी प्रकार चैतन्य भी प्रत्येक भूत मे न हो कर भी समुदाय में हो सकता है।

उत्तर—तुम्हारा यह कथन बिलकुल ठीक नहीं है क्योंकि मद्य के अङ्गों में से प्रत्येक में मदशक्ति के अनुयायी माधुर्य आदि गुण देखे जाते हैं, देखो। ईख के रस में मीठापन होता है तथा धातकी के पुष्पों मे कुछ २ विकलता को उत्पन्न करने की शक्ति देखी जाती है, अत मद्याङ्गों का सयोग होने पर वह शक्ति उत्कट रूप से दीख पड़ती है परतु चैतन्य तो सामान्यतया भी प्रत्येक भूत में नहीं दीख पड़ता है तो फिर वह भूतों के समुदाय में कैसे हो सकता है? और सुनो। यदि तुम चैतन्य को धर्म रूप मानते हो तो इसका धर्मी भी तुम्हें इसी के अनुकूल मानना चाहिए, क्योंकि अनुकूलता के विना धर्मधर्मिभाव ही नहीं होता है जैसा कि (अनुकूलता के न होने से) जल और कठिनता का

धर्मधर्मि भाव नहीं होता है तथा भूत चैतन्य के अनुकूल धर्मी नहीं हो सकते हैं, क्याकि चैतन्य की अपेक्षा वे विलक्षण हैं, देखो ! चैतन्य बोध रूप और अमूर्त्त है तथा भूत अबोध रूप और मूर्त्त हैं तो फिर इन का परस्पर में धर्मधर्मि भाव कैसे हो सकता है ?

प्रश्न—यह चैतन्य भूतों का धर्म भले ही न हो परंतु उनका कार्य तो हो सकता है, देखो ! जहां भूत समुदाय होता है वहां चैतन्य की उत्पत्ति देखी जाती है ।

उत्तर—तुम्हारा यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि परस्पर में विलक्षणता[1] होने से ही चैतन्य भूतों का कार्य भी नहीं हो सकता है, कहा भी है कि—

काठिन्याबोधरूपाणि, भूतान्यध्यक्षसिद्धितः ।
चेतना च न तद्रूपा, सा कथं तत्फलं भवेत् ॥१॥

अर्थात्—प्रत्यक्ष प्रमाण से भूत काठिन्य रूप और अबोध रूप हैं; परंतु चेतना तद्रूपा[2] नहीं है; इसलिए वह चेतना भूतों का कार्य कैसे हो सकती है ॥१॥

और सुनो ! यदि चैतन्य को भूतों का कार्य माना जावे तो फिर यह समस्त जगत् प्राणिमय होना चाहिये, परंतु ऐसा दीख नहीं पड़ता है, इसलिए चैतन्य भूतों का कार्य भी नहीं है ।

प्रश्न—आता हुआ अथवा जाता हुआ आत्मा दीख तो नहीं पड़ता है, हां केवल इतना तो अवश्य होता है कि—देह की विद्यमानता में चैतन्यमात्र दीख पड़ता है तथा देह के न रहने पर भस्मावस्था में वह नहीं दीख पड़ता है, इसलिये आत्मा नहीं है, किन्तु एक चैतन्यमात्र है और वह चैतन्य देह का कार्य है और देह में ही रहता है, जैसे कि भीत पर चित्र रहता है, देखो ! चित्र दीवार के विना नहीं रह सकता है, न

१—भिन्नता, भेद । २ काठिन्य रूपा और अबोध रूपा ।

वह दूसरी दीवार पर जाता है, न वह दूसरी दीवार से आया है, किन्तु दीवार में ही पैदा हुआ है तथा दीवार में विलीन हो जाता है, इसी प्रकार चैतन्य को समझना चाहिये ।

उत्तर—तुम्हारा यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि आत्मा स्वरूप से अमूर्त्त है, आन्तर[1] शरीर भी अति सूक्ष्म होने के कारण नेत्र से नहीं दीख पड़ता है, कहा भी है —

अन्तराभावदेहोऽपि, सूक्ष्मत्वान्नोपलभ्यते ।
निष्क्रामन् प्रविशन्नात्मा, नाभावोऽनीक्षणादपि॥१॥

अर्थात्—आन्तर शरीर भी सूक्ष्म होने के कारण दीख नहीं पड़ता है तथा इसी प्रकार निकलता हुआ और प्रवेश करता हुआ आत्मा भी नहीं दीख पड़ता है, परन्तु न दीखने मात्र से उसका अभाव नहीं हो सकता है ॥१॥

इसलिए आन्तर शरीर के सहित भी आत्मा आता हुआ अथवा जाता हुआ नहीं दीख पड़ता है, परन्तु लिङ्ग के द्वारा तो उसका ज्ञान होता है, देखो ! तत्काल में उत्पन्न हुए कृमि जन्तु को भी अपने शरीर का मोह होता है, क्योंकि वह भी घातक[2] को देख कर भाग जाता है तथा जिस विषय में जो मोह होता है वह उस विषय के सेवन के अभ्यास से होता है, क्योंकि सर्वत्र यही देखा जाता है, देखो! किसी वस्तु के गुण और दोष का परिज्ञान न होने पर किसी का भी उस में आग्रह नहीं होता है, इसलिए उत्पत्ति समय में ही जन्तु को जो अपने शरीर में आग्रह होता है, इससे सिद्ध होता है कि जन्मान्तर में इसने शरीर परिवेषण का अभ्यास किया है, इस प्रकार दूसरे जन्म से आत्मा का आना सिद्ध हो गया, कहा भी है कि—

शरीराग्रह रूपस्य, चेतसः सम्भवो यदा ।
जन्मादौ देहिनां दृष्टः, किं न जन्मान्तरागतिः॥ १ ॥

१—भीतरी । २—मारने वाले ।

अर्थात्—जब कि शरीराग्रह रूप चेतना की उपलब्धि सब प्राणियों की जन्मकाल में देखी जाती है तो फिर आत्मा का दूसरे जन्म से आना क्यों नहीं सिद्ध होता है ॥१॥

अब जो तुमने चित्र का दृष्टान्त दिया था; वह दृष्टान्त ठीक नहीं है; क्योंकि दृष्टान्त में विषमता[1] है, देखो! चित्र अचेतन है तथा गमन स्वभाव से रहित है; परन्तु आत्मा तो चेतन है तथा वह कर्मवश गमन आगमन भी करता है, तो फिर दृष्टान्त में और दार्ष्टान्तिक में समानता कैसे हो सकती है? इसलिये यह समझना चाहिये कि जैसे कोई पुरुष किसी ग्राम में कुछ दिन तक गृही[2] होकर दूसरे ग्राम में दूसरा घर बनाकर रहता है; इसी प्रकार आत्मा भी किसी भव में देह को छोड़कर दूसरे भव में दूसरे देह को रच कर ठहरता है।

किञ्च—यदि चैतन्य का कारण देह को माना जावे तथा देह की निवृत्ति होने पर चैतन्य की भी निवृत्ति मानी जावे तो देह की भस्मावस्था में वह चैतन्य भलें ही न हो; परन्तु मृतावस्था में तो चैतन्य दीखना चाहिये, क्योंकि उस समय शरीर ज्यों का त्यों होता है, इसलिये चैतन्य न तो भूतों का धर्म है और न उनका कार्य है, तथा प्रत्येक प्राणी में वह चैतन्य अपने अनुभव रूप प्रमाण से सिद्ध है, इसलिये वह चैतन्य जिसका धर्म है वही जीव है।

जीव के मुख्यतया दो भेद हैं—बद्ध और मुक्त, इनमें से संसारी जीव को बद्ध कहते हैं तथा सम्यग्दर्शनादि साधन से कर्मांश के दूर होने से निर्वाण को प्राप्त हुए जीव को मुक्त कहते हैं।

यहाँ पर यह अति संक्षेप से जीव के विषय में लिखा गया है इस विषय का विस्तार पूर्वक वर्णन दूसरे ग्रन्थों में देख लेना चाहिये।

१—भिन्नता, असमानता। २ घर में स्थित।

२—जो चेतना रहित अर्थात् जड़स्वभाव है उसको अजीव कहते हैं, अजीव तत्त्व के चौदह भेद हैं-धर्मास्तिकाय[1], अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय, इन तीनों के स्कन्ध[2], देश[3] और प्रदेश[4], ये तीन भेद हैं, इसलिये सब मिलाकर नौ भेद हुए, इनमें काल, पुद्गल के स्कन्ध, देश, प्रदेश, और परमाणु, ये पाँच भेद मिलाने से चौदह भेद होगये।

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और काल, ये पाँच अजीव द्रव्य हैं, इनमें जीव द्रव्य को मिलाने से षट्द्रव्य कहे जाते हैं, इन में से धर्मास्तिकाय चलन स्वभाव वाला है तथा अधर्मास्तिकाय स्थिर स्वभाव वाला है, ये दोनों अरूपी द्रव्य चतुर्दशरज्जु लोकव्यापी हैं, आकाशास्तिकाय अवकाश देने के स्वभाव से युक्त है, पुद्गल चार प्रकार का है, स्कन्ध, देश, प्रदेश तथा परमाणु, शब्द, अन्धकार, प्रकाश, कान्ति, छाया, आतप, वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श, यह पुद्गलों का लक्षण है। एक करोड़ सड़सठ लाख सतहत्तर हजार दो सौ सोलह आवलिकायें एक मूहूर्त्त में होती हैं, समय आवलिका, मुहूर्त्त, दिवस, पक्ष, मास, वर्ष, पल्योपम, सागरोपम, उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी, एतद्रूप काल कहा गया है। छ द्रव्यों में से जीव और पुद्गल परिणामी[5] हैं, शेष चार द्रव्य अपरिणामी[6] हैं, तथा प्रथम द्रव्य जीव द्रव्य है, शेष पाँच अजीव द्रव्य हैं, पुद्गल द्रव्य मूर्त्त[7] है, शेष पाँच द्रव्य अमूर्त्त[8] हैं, छ द्रव्यों में से पाँच द्रव्य सप्रदेश[9] हैं तथा काल द्रव्य अप्रदेश[10] है, छ द्रव्यों में से धर्म, अधर्म और आकाश, ये तीन

१—प्रदेशसमूह को अस्तिकाय कहते हैं। २—पूर्वोक्त तीनों द्रव्यों के चतुर्दश रज्ज्वात्मक लोक को स्कन्ध कहते हैं। ३—स्कन्ध से कुछ न्यून, सकल प्रदेशानुगत विभाग को देश कहते हैं। ४—निर्विभाज्य विभाग को प्रदेश कहते हैं।

५—परिणमन स्वभाव वाले। ६—परिणमन स्वभाव से रहित। ७—मूर्त्ति वाला। ८—मूर्त्ति से रहित। ९—प्रदेश के सहित। १०—प्रदेश रहित।

द्रव्य एक हैं, शेष तीन द्रव्य अनेक हैं; छः द्रव्यों में से आकाश क्षेत्ररूप है, शेष पाँच द्रव्य क्षेत्री हैं, छः द्रव्यों में से जीव और पुद्गल सक्रिय[1] हैं, शेष चार द्रव्य अक्रिय[2] हैं, छः द्रव्यों में से धर्म और अधर्म, आकाश और काल, ये चार द्रव्य नित्य[3] हैं, शेष दो द्रव्य अनित्य हैं, छः द्रव्यों में से धर्मादि पाँच द्रव्य कारण रूप हैं, शेष एक (जीव) द्रव्य अकारण है, छः द्रव्यों में से एक जीव द्रव्य कर्त्ता है, शेष पाँच द्रव्य अकर्त्ता हैं, छः द्रव्यों में एक आकाश द्रव्य सर्वगत[4] है, शेष पाँच द्रव्य असर्वगत[5] हैं, तथा यद्यपि छःहों द्रव्य क्षीर और नीर के समान परस्पर में अवगाढ़ हैं तथापि वे अप्रवेश हैं अर्थात् कोई द्रव्य अन्य द्रव्य रूप में परिणत नहीं होता है।

(प्रश्न) अजीव द्रव्य का सामान्य लक्षण क्या है?

(उत्तर) जो उपयोग से रहित है उसको अजीव कहते हैं।

(प्रश्न) द्रव्य का क्या लक्षण है?

(उत्तर) जो उत्पाद, व्यय, और ध्रौव्य से युक्त हो उसे द्रव्य कहते हैं, इसी को पदार्थ भी कहते हैं।

(प्रश्न) उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य किसको कहते हैं?

(उत्तर) अपनी जाति को न छोड़ कर दूसरे परिणाम को प्राप्त होने को उत्पाद कहते हैं, अपनी जाति को न छोड़ कर पूर्व परिणाम के त्याग को व्यय कहते हैं तथा अपनी जातिस्वरूप के द्वारा व्यय और उत्पाद का जो न होना है उसको ध्रौव्य कहते हैं, अथवा अपनी जाति के रूप से वस्तु का जो अनुगत रूप होना है उसको ध्रौव्य कहते हैं।

१—क्रिया युक्त। २—क्रिया रहित। ३—यद्यपि उत्पाद, व्यय और ध्रुवत्व के द्वारा सब ही पदार्थ नित्यानित्य रूप हैं तथापि धर्म आदि चार द्रव्य सदा अवस्थित होने से नित्य कहे गये हैं। ४—सब में विद्यमान। ५—सब में अव्याप्त।

(प्रश्न) क्या द्रव्य का यह भी लक्षण है कि जो गुण और पर्याय वाला हो।

(उत्तर) हां, यह भी द्रव्य का लक्षण ठीक है।

(प्रश्न) गुण और पर्याय किसको कहते हैं ?

(उत्तर) सह भावी[1] को गुण और क्रम भावी[2] को पर्याय कहते हैं।

(प्रश्न) छ द्रव्यों में से किसका कौन उपकारी है ?

(उत्तर) जीव और पुद्गलों की गति में धर्मास्तिकाय का उपकार है, अवगाह्यमान[3] पदार्थों की अवगाहना क्रिया में आकाश का उपकार है, शरीर, वाणी, मन, प्राण और अपान के द्वारा पुद्गलों का उपकार है।

(प्रश्न) शरीर के कितने भेद हैं ?

(उत्तर) शरीर के पाच भेद हैं—औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण।

(प्रश्न) मन कितने प्रकार का है ?

(उत्तर) मन दो प्रकार का है—द्रव्य मन और भाव मन।

(प्रश्न) वाणी वा वाग्योग किसे कहते हैं ?

(उत्तर) भाषा का प्रवर्त्तक[4] होकर जन्तु का जो प्रयत्न विशेष है उसे वाग्योग कहते हैं।

(प्रश्न) भाषा किसे कहते हैं ?

(उत्तर) भाषा रूप से ग्रहण किये हुए भाषा योग्य द्रव्यों की जो सन्तति है उसे भाषा कहते हैं।

(प्रश्न) प्राण और अपान किसको कहते हैं ?

१—साथ में होने वाले। २—क्रम से होने वाले। ३—अवगाहन किये जाते हुए। ४—प्रवृत्ति करने वाला।

(उत्तर) कोष्ठ से उत्पन्न हुए उच्छ्वास रूप वायु को प्राण कहते हैं तथा भीतर प्रविष्ट किया हुआ जो बाहरी वायु है उसका फिर निःश्वास करना इसका नाम अपान है।

(प्रश्न) और भी किसी प्रकार से पुद्गलों का उपकार होता है?

(उत्तर) हाँ—सुख, दुःख, जीवित और मरण के द्वारा भी पुद्गलों का उपकार होता है।

(प्रश्न) सुख, दुःख, जीवित और मरण का क्या लक्षण है?

(उत्तर) सातावेदनीय के उदय से आत्मा की प्रसन्नता को सुख कहते हैं, असाता वेदनीय के उदय से आत्मा को संक्लेश होना; इसका नाम दुःख है, आयुर्नामक कर्म का उदय होने से प्राणों की स्थिति को जीवित कहते हैं तथा आयुर्नामक कर्म का उच्छेद होने से प्राणों के विनाश होने को मरण कहते हैं।

(प्रश्न) जीव का परस्पर में भी क्या किसी प्रकार उपकार होता है?

(उत्तर) हां, जीव का परस्पर में स्वस्वामिभाव आदि सम्बन्ध के द्वारा उपकार होता है।

(प्रश्न) काल का किसके द्वारा उपकार होता है?

(उत्तर) वर्त्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्व आदि के द्वारा काल का उपकार होता है।

(प्रश्न) पुद्गल के कितने भेद हैं?

(उत्तर) पुद्गल के चार भेद हैं—स्कन्ध[1], देश, प्रदेश और परमाणु।

(प्रश्न) स्कन्ध कितने प्रकार का है?

(उत्तर) स्कन्ध दो प्रकार है—सूक्ष्म और बादर।

१—स्कन्ध आदि का लक्षण पहिले कह चुके हैं।

(प्रश्न) कृपया इनका स्वरूप बतलाइये ?

(उत्तर) स्पर्श आदि चार से युक्त होकर सूक्ष्म परिणाम में जो परिणत होता है उसे सूक्ष्म स्कन्ध कहते हैं, तथा स्पर्श आदि आठ से युक्त होकर बादर परिणाम में जो परिणत होता है उसे बादर स्कन्ध कहते हैं।

(प्रश्न) क्या स्कन्ध के और भी कोई भेद हैं ?

(उत्तर) हां—स्कन्ध दश प्रकार का है—शब्द, बन्ध, सूक्ष्मता, स्थूलता, संस्थान, भेद, तम, छाया, आतप और उद्योत।

३—जिसके द्वारा शुभ कर्मों के पुद्गलों का सञ्चय होने से सुख की प्राप्ति होती है उसे पुण्य कहते हैं, पुण्य का भोग ब्यालीस प्रकार से होता है यथा-साता वेदनीयकर्म[1], उच्च गोत्र[2], मनुष्यद्विक[3], सुरद्विक[4], पञ्चेन्द्रिय जाति, पाँच शरीर[5], उनमें से पहिले तीन शरीर के अङ्ग और उपाङ्ग, प्रथम संघयण[6] (वज्रऋषभनाराच) प्रथम संस्थान (समचतुरस्र) वर्णचतुष्क[7], नामकर्म, अगुरु लघु[8], पराघात[9], श्वासोच्छ्वास, आतप[10], उद्योत, शुभविहायोगति[11], सुघाटरूप निर्माण, त्रसदशक[12], देव, मनुष्य और तिर्यञ्च का आयु, तीर्थङ्कर नामकर्म। त्रस[13], बादर, पर्याप्ति[14], प्रत्येक[15], स्थिरता, शुभ, सौभाग्य, सुस्वर, आदेय[16] और यश, ये दश पुण्य के भेद में नाम कर्म हैं।

१—सुखानुभवकारी कर्म। २—उच्चकुल में जन्म। ३—मनुष्य गति तथा मनुष्यानुपूर्वी प्राप्ति। ४—देवगति तथा देवानुपूर्वी। ५—औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण। ६—अस्थिनिचय। ७—श्वेतादिक वर्ण, शुभ गन्ध, शुभ रस और शुभ स्पर्श। ८—न भारी न हल्का। ९—दूसरे को दबाने की शक्ति। १०—तेज युक्त शरीर प्राप्ति। ११—हंसादि के समान उत्तम गति। १२—त्रस आदि दश। १३—द्वीन्द्रिय शरीर प्राप्ति। १४—[illegible] पर्याप्ति। १५—भिन्न भिन्न शरीर की प्राप्ति। १६—मान्य वचन की प्राप्ति।

४—पुण्य तत्त्व से विपरीत लक्षण वाले को पाप तत्त्व कहते हैं, तात्पर्य यह है कि जिसके द्वारा अशुभ कर्मों के पुद्गलों का सञ्चय होने से दुःख की प्राप्ति होती है उसको पाप कहते हैं इस पाप तत्त्व का भोग नीचे लिखे हुए ८२ साधनों के द्वारा होता है ।

पाँच ज्ञानावरणीय[1], पाँच अन्तराय[2], नौ दर्शनावरणीय[3], नीच गोत्र, असातावेदनीय, मिथ्यात्त्व[4], स्थावरदशक[5] नरकत्रिक[6], पच्चीस-कषाय[7] तथा तिर्यग् द्विक[8] ।

एकेन्द्रिय[9], द्वीन्द्रिय[10], त्रीन्द्रिय[11] और चतुरिन्द्रिय जाति, अशुभ विहायोगति[12], उपघात[13], अप्रशस्त वर्णचतुष्क[14], अप्रथम संहनन[15] तथा अप्रथम संस्थान[16] ।

१—मतिज्ञानावरणीय, श्रुत ज्ञानावरणीय, अवधिज्ञाना वरणीय, मनः पर्याय ज्ञानावरणीय तथा केवल ज्ञानावरणीय । २—दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय, और वीर्यान्तराय । ३—चार दर्शन के (चतुर्दर्शना-वरणीय, अचक्षुर्दर्शनावरणीय, अवधिदर्शनावरणीय तथा केवल दर्शनावरणीय) तथा पांच निद्रा के (निद्रा, निद्रा-निद्रा, प्रचला, प्रचला प्रचला, तथा स्तेनर्द्धि) । ४—मिथ्यात्व मोहनीय (जिसके उदय से वीतराग वचन की विपरीत श्रद्धा होती है) । ५—स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्ति, साधारण, अस्थिर, अशुभ, दौर्भाग्य, दुस्वर, अनादेय और अयश, यह स्थावर दशक है (इसे त्रसदशक से विपरीतार्थ वाला जानना चाहिये) । ६—नरकगति, नरकानुपूर्वी, और नरकायुः । ७—पच्चीस कषाय प्रसिद्ध हैं । ८—तिर्यग् गति तथा तिर्यगानुपूर्वी ।

९—एकेन्द्रियजाति । १०—द्वीन्द्रियजाति । ११—त्रीन्द्रिय जाति । १२—ऊँट आदि की गति के समान गति । १३—अपने अंगों और उपांगों आदि के द्वारा स्वयमेव हनन को प्राप्त होना । १४—अशुभ वर्ण, अशुभ गन्ध, अशुभ रस और अशुभ स्पर्श । १५—प्रथम संहनन को छोड़ कर शेष पांच संहननों की प्राप्ति । १६—प्रथम संस्थान को छोड़ कर शेष पांच सस्थानों की प्राप्ति ।

४—जिसके द्वारा नवीन कर्मों का बन्ध होता है उसे आश्रव कहते हैं। आश्रव के निम्नलिखित व्यालीस भेद हैं —

पाच इन्द्रिय, चार कषाय, पाच अव्रत, तीन योग और पचीस क्रियायें।

(प्रश्न) पाच इन्द्रिय कौन सी हैं ?

(उत्तर) श्रोत्र, त्वक्, नेत्र, जिह्वा और नासिका, ये पाच इन्द्रिया हैं।

(प्रश्न) चार कषाय कौनसे हैं ?

(उत्तर) क्रोध, मान, माया और लोभ, ये चार कषाय हैं।

(प्रश्न) पाच अव्रत कौन से हैं ?

(उत्तर) प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रह, ये पाच अव्रत हैं।

(प्रश्न) तीन योग कौनसे हैं ?

(उत्तर) मनोयोग, वचन योग और काय योग, ये तीन योग हैं।

(प्रश्न) पचीस क्रियायें कौनसी हैं ?

(उत्तर) कायिकी, अधिकरणिकी, प्राद्वेषिकी, पारितापनिकी, प्राणातिपतिकी, आरम्भकी, पारिग्रहिकी, माया प्रत्ययिनी, मिथ्या दर्शन प्रत्ययिकी, अप्रत्याख्यानिकी, दार्ष्टिकी, स्पर्शनप्रत्ययिकी, प्रातीत्यिकी, सामन्तोपनिपातिकी, नैसर्गिकी, स्वहस्तिकी, आज्ञापनिकी, वैदारणिकी, अनाभोगिकी, अनवकाक्षा प्रत्ययकी, प्रायोगिकी, समुदानिकी, प्रेमप्रत्ययिकी, द्वेषप्रत्ययिकी और ईर्यापथिकी, ये पचीस क्रियाये हैं।

(प्रश्न) कृपा करके इन क्रियाओं के स्वरूप का वर्णन कीजिये।

(उत्तर) इनका विस्तारपूर्वक वर्णन ग्रन्थान्तरों में किया गया है, परतु तुम्हारी इच्छा के अनुसार यहा पर अति सक्षेप से उनका वर्णन किया जाता है —

१—शरीर के द्वारा जो क्रिया होती है उसे कायिकी कहते हैं।

२—जिसके द्वारा जीव अपने आत्मा को नरकादि में जाने का अधिकारी बनाता है उसे अधिकरणिकी कहते हैं।

३—जिस में अधिक दोष हों, उसे प्राद्वेषिकी कहते हैं।

४—जीव को दुःख देने से जो उत्पन्न होती है उसे परितापनिकी कहते हैं।

५—प्राणियों के विनाश करने की क्रिया को प्राणातिपातिकी कहते हैं

६—पृथिव्यादि षट्काय के उपघात करने का लक्षण जिसमें हो उसे आरम्भिकी कहते हैं।

७—अनेक उपायों से धन के अर्जन और रक्षण में जो मूर्च्छा का परिणाम है; उससे उत्पन्न क्रिया को पारिग्रहिकी कहते हैं।

८—मायारूप हेतु से जो क्रिया उत्पन्न होती है उसे मायाप्रत्ययिकी कहते हैं।

९—मिथ्यारूप हेतु से उत्पन्न होने वाली क्रिया को मिथ्यादर्शन प्रत्ययिकी कहते हैं।

१०—संयम के विघातकारी कषायों का उदय होने से प्रत्याख्यान के त्याग को अप्रत्याख्यानिकी क्रिया कहते हैं।

११—रागादि से कलुषित चित्त के द्वारा जो जीव वा अजीव को देखना है उसे दार्ष्टिकी कहते हैं।

१२—रागद्वेष और मोह से युक्त चित्त के द्वारा जो अस्पृश्य पदार्थ का स्पर्श करना है उसे स्पर्शन प्रत्ययिकी कहते हैं।

१३—पूर्व स्वीकृत पापोपादान अधिकरण की अपेक्षा से जो क्रिया उत्पन्न होती है उसे प्रातीत्यिकी कहते हैं, इसको प्रातीत्यप्रत्ययिकी भी कहते हैं।

१४—सर्व दिशाओं से उपनिपात (उपस्थिति) रूप कारण से जिस क्रिया की उत्पत्ति हो उसको सामन्तोपनिपातकी कहते हैं।

१५—परोपदिष्ट पाप में अति काल तक प्रवृत्त कर उसी पाप की अनुमोदना करना इसको नैसर्गिकी क्रिया कहते हैं।

१६—अपने हाथ से जो की जाती है उसे स्वाहस्तिकी कहते हैं।

१७—भगवान् की आज्ञा का उल्लघन कर अपनी बुद्धि से पदार्थों की प्ररूपणा के द्वारा जो क्रिया उत्पन्न होती है उसे आज्ञापनिकी कहते हैं।

१८—दूसरे के अविद्यमान मायाचरण को प्रकट कर उसके मान के विनाश से उत्पन्न हुई क्रिया को वैदारिणकी कहते हैं।

१९—उपयोग के अभाव को अनाभोग कहते हैं, उस (अनाभोग) से उपलक्षित क्रिया को अनाभोगिकी कहते हैं।

२०—परकथित हित वचन की आकाङ्क्षा न करने अर्थात् उसका अनादर करने रूप हेतु से जिस क्रिया की उत्पत्ति होती है। उसे अनवकाङ्क्षा प्रत्ययिकी कहते हैं।

२१—तीन प्रकार के अशुभ योगों के व्यवहार से जो क्रिया उत्पन्न होती है उसे प्रायोगिकी कहते हैं।

२२—सर्व देश अथवा एक देश के द्वारा इन्द्रियोपपात से जिसकी उत्पत्ति होती है उसे समुदान क्रिया कहते हैं।

२३—माया और लोभ से समुत्पन्न क्रिया को प्रेम प्रत्ययिकी कहते हैं।

२४—क्रोध और मान से समुत्पन्न क्रिया को द्वेष प्रत्ययिकी कहते हैं।

२५—गमन के द्वारा जिस क्रिया की उत्पत्ति होती है उसे ईर्या पथिकी कहते हैं।

(प्रश्न) आस्रव शब्द का अर्थ क्या है ?

(उत्तर) आस्रव शब्द का अर्थ आगमन है, अत अर्थापत्या[१]

१—अर्थापत्ति के द्वारा।

यह समझना चाहिये कि शरीर, वाणी और मन से किये हुए शुभ और अशुभ कर्मों का जो आगमन है उसको आस्रव कहते हैं, क्योंकि शरीर, वाणी और मन के द्वारा ही आत्मा का कर्मयोग (कर्म के साथ सम्बन्ध) होता है।

(प्रश्न) योग कितने प्रकार का है?

(उत्तर) योग तीन प्रकार का है—कायिक, वाचिक, और मानसिक।

(प्रश्न) मुख्यतया आस्रव कितने प्रकार का है?

(उत्तर) मुख्यतया आस्रव दो प्रकार का है—शुभ और अशुभ, इन दोनों का उक्त तीनों योगों के साथ में मिश्रण होने से कुल छः भेद होते हैं, तद्यथा-मानसिक शुभास्रव, मानसिक अशुभास्रव, वाचिक शुभास्रव, वाचिक अशुभास्रव, कायिक शुभास्रव तथा कायिक अशुभास्रव, इस विषय में यह भी जान लेना चाहिये कि—अशुभ कर्म के कारण—कषाय, विषय, योग, प्रमाद, अविरति, मिथ्यात्व, आर्त्त और रौद्र ध्यानादि हैं; इसीलिये योग भी दो प्रकार का है—शुभ और अशुभ, इनमें से सुखानुबन्धी को शुभ और दुःखानुबन्धी को अशुभ कहते हैं, अथवा प्राणातिपातादि के विषय से निवृत्त होकर धर्मध्यानादि का आश्रय लेने को शुभ योग कहते हैं तथा प्राणातिपातादि विषयों में प्रवृत्त होकर आर्त्त और रौद्र ध्यान का आश्रय लेने को अशुभ योग कहते हैं। यह भी जान लेना चाहिये कि—पुनरपि[1] यह आस्रव दो प्रकार का है—साम्परायिक और ईर्यापथिक।

(प्रश्न) साम्परायिक और ईर्यापथिक आस्रव का क्या लक्षण है?

(उत्तर) कषायों के सहित तीन प्रकार के योगों से किये कर्म की प्राप्ति को साम्परायिक आस्रव कहते हैं; अथवा संसार में परिभ्रान्ति[2] का कारण होकर यथा योग्य तीन प्रकार के योगों से

१—फिर भी। २—परिभ्रमण (घूमना)।

किये हुये का जो आगमन[1] है उसे साम्परायिक आस्रव कहते हैं तथा अकषाय के द्वारा कृतत्त्व[2] और एक समय स्थितिकत्त्व[3] के विद्यमान होने पर यथायोग्य तीन प्रकार के योगों से किये हुए कर्मों का जो आगमन है उसको ऐर्यापथिक आस्रव कहते हैं।

(प्रश्न) प्रथम जो आस्रव के ४२ भेद कहे थे, वे किस आस्रव के जानने चाहिये ?

(उत्तर) वे ४२ भेद साम्परायिक आस्रव के हैं।

५—जिसके द्वारा आते हुए कर्मों का अवरोध (रुकावट) होता है उसे सवर कहते हैं, तात्पर्य यह है कि जो आस्रव के निरोध का कारण है उसे सवर कहते हैं।

सवर के ५७ भेद हैं तद्यथा-पाच समिति[4], तीन गुप्ति[5], बाईस परीषह[6], दश साधु धर्म[7], बारह भावना[8], और पाच चारित्र[9]। मुख्यतया सवर दो प्रकार का है—द्रव्य सवर और भाव सवर, इनमें से नवीन कर्मों के अवरोध को द्रव्य सवर कहते हैं तथा समिति आदि के द्वारा परिणाम को प्राप्त हुआ जो शुद्ध उपयोग रूप द्रव्यत्व, उससे भाव कर्म का अवरोधक[10] जो आत्मा का परिणाम होता है उसको भाव सवर कहते हैं।

१—उपस्थिति, प्राप्ति । २—कृतभाव । ३—एक समय पर्यन्त स्थिति का होना । ४—सम्यक्तया चेष्टा को समिति कहते हैं । ५—योग के गोपन को गुप्ति कहते हैं । ६—निर्जरा के लिये जो सब प्रकार से कष्ट का सहन करना है उसे परीषह कहते हैं । ७—साधु का आचरणीय जो आवश्यक कर्त्तव्य है उसे साधुधर्म कहते हैं । ८—मन की चंचलता को दूर करने के लिये जो सद्भाव का धारण करना है उसे भावना कहते हैं । ९—कर्मचय के लिये मर्यादा आदि परिणाम के द्वारा जो यतना आदि का धारण करना है उसको चारित्र कहते हैं । १०—रोकने वाला ।

(प्रश्न) पाँच समिति कौनसी है ?

(उत्तर) ईर्यासमिति[१], भाषा समिति[२], एषणासमिति[३], आदान-निक्षेपणासमिति[४] और उच्चारसमिति[५], ये पाँच समिति हैं।

(प्रश्न) तीन गुप्ति कौन सी हैं ?

(उत्तर) मनोगुप्ति[६], वचन गुप्ति[७], और कायगुप्ति[८], ये तीन गुप्ति हैं।

(प्रश्न) बाईस परीषह कौनसे हैं ?

(उत्तर) क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंश, अचेल, अरति, स्त्री, चर्या, नैषेधिकी, शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृण-स्पर्श, मल, सत्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और सम्यक्त्व, ये बाईस परीषह[९] हैं।

१—यतनापूर्वक दृष्टि शोधित मार्ग में गमन करना। २—उत्तम प्रकार से निरवद्य भाषा का बोलना। ३—सम्यक्तया ४२ दोषों से रहित शुद्ध आहार, वस्त्र और पात्र सम्बन्धिनी जो गवेषणा है उसे एषणासमिति कहते हैं। ४—अच्छे प्रकार से परमार्जित आसन आदि के ग्रहण और रखने की चेष्टा। ५—उपयोग पूर्वक निर्जीव स्थान में मल और मूत्रादि का त्याग। ६—मन को सुरक्षित करना, इसके तीन प्रकार है—अपध्यान के द्वारा समुत्पन्न कल्पना समूह का त्याग, धर्म ध्यान के द्वारा माध्यस्थ्य परिणाम का धारण करना तथा सर्व मनोयोग के अवरोध से तेरहवें गुणस्थान के अन्त में आत्मा में रमण करना। ७—वचन की रक्षा, इसके दो भेद हैं—मौनावलम्ब तथा यतन से बोलना। ८—शरीर का गोपन, इसके दो भेद हैं—उपसर्ग परीषह के समय शरीर की स्थिरता तथा प्रत्येक शारीरिक चेष्टा में यतना का रखना।

९—जिनोक्त मार्ग के अपरित्याग के लिये तथा कर्मों की निर्जरा के लिये दुःखों का जो सब प्रकार से सहन करना है उसको परीषह कहते हैं, इन बाईस परीषहों में से दर्शन परीषह और प्रज्ञापरीषह जैनमार्ग के अपरित्याग के लिये हैं तथा शेष बीस परीषह कर्म की निर्जरा के लिये हैं।

(प्रश्न) कृपया इनके स्वरूप का कुछ विवरण कीजिये ।

(उत्तर) इनका विस्तारपूर्वक वर्णन अन्य ग्रन्थों में किया गया है, यहां पर उनका अति संक्षेप से कुछ विवरण किया जाता है —

१—भूख से अत्यन्त पीडित होने पर भी अनेषणीय आहार का न लेना तथा आर्त्तध्यान का न करना, यह क्षुधापरीषह है।

२—प्यास से पीडित होने पर भी अनेषणीय जल का ग्रहण न करना तथा तृषा का सहन करना, यह पिपासा परीषह है।

३—शीत से पीडित होने पर भी अकल्पनीय वस्त्र का ग्रहण न करना तथा शीत का सहन करना, इसका नाम शीत परीषह है।

४—ग्रीष्म ऋतु में उष्णता का दुःख उपस्थित होने पर भी छत्र, व्यञ्जन, स्नान, और विलेपन आदि की इच्छा न कर उष्णता का सहन करना, यह उष्ण परीषह है।

५—दंश और मशक आदि के द्वारा पीड़ा पहुँचने पर भी उन के निवारण के उपाय को तथा उन पर द्वेष को न करना, इस को दंश परीषह कहते हैं।

६—आगम में कथित विधि के अनुसार वस्त्र को रखना, वस्त्र के न मिलने पर दीनता न करना तथा अकल्पनीय वस्त्र का ग्रहण न करना, यह अचेलक परीषह है।

७—कारण विशेष से यदि साधु को किसी प्रकार से अरति उत्पन्न हो तो धर्म में अनुरक्ति करे, साधु धर्म का ध्यान करे तथा अरति के निवारण के लिये चेष्टा करे, इसको अरति परीषह कहते हैं।

८—स्त्री का दर्शनादि होने पर उसके अंग प्रत्यंग का न देखना, उसके हास विलासादि की ओर मन को न लेजाना, उससे दृष्टि का न मिलाना तथा स्त्री को मोक्षपरिपन्थिनी[1] जान उस पर कामबुद्धि का न करना, इस को स्त्री परीषह कहते हैं।

१—मोक्षविरोधिना ।

९—आलस्यरहित होकर ग्राम और नगर आदि में विहार करना तथा पूर्व निवास किये हुए स्थानों में ममत्त्व का न करना, इसको चर्या-परीषह कहते हैं ।

१०—पाप कर्म और गमनागमन का निषेध जिस का प्रयोजन है उसे नैषेधिकी कहते हैं, तात्पर्य यह है कि शून्य गृह आदि में कायोत्सर्ग के समय अनेक उपसर्गों के होने पर भी अयोग्य चेष्टा का निषेध करना, इसको नैषेधिक परीषह[1] कहते हैं ।

११—वसति, उपाश्रय अथवा शयन स्थान; ऊँचा नीचा वा कठिन हो तो उसे बुरा भला न कहे तथा उद्वेग न करे, इस को शय्या-परीषह कहते हैं ।

१२—क्रोधवश होकर यदि कोई पुरुष साधु को कटुवचन बोले तो उस पर क्रोध न कर कटु वचन का सहन करे, इसको आक्रोष परीषह कहते हैं ।

१३—यदि कोई दुरात्मा पुरुष साधु पर प्रहार करे वा उस का वध करे तो भी उस पर क्रोध का न करना, तथा ऐसे समय में सद्-ध्यान का करना, इस को वध परीषह कहते हैं ।

१४—विना मांगे किसी वस्तु को न लेना, यथासम्भव याचना का न करना तथा अनुचित याचना का न करना, इस को याचना परी-षह कहते हैं ।

१५—याचना करने पर भी वस्तु का अलाभ होने पर उद्वेग और विषाद का न करना, इसको अलाभ परीषह कहते हैं ।

१६—कास, श्वास आदि रोग के होने पर-चिकित्सा की इच्छा का त्याग करना, अथवा सावद्य चिकित्सा का त्याग करना, रोग दशा में

१—किन्हीं ग्रन्थों में नैषेधिक परीषह के स्थान में "निषद्यापरीषह" कहा है; वहाँ यह अर्थ समझना चाहिये कि निवास स्थान में इष्टानिष्ट उपसर्गों के होने पर भी चित्त को चलायमान न कर उनका सहन करे ।

व्याकुल न होना तथा आर्तध्यान का न करना, इस को रोगपरीषह कहते हैं।

१७—दर्भसथार आदि के समय तृण के अग्र भाग की तीक्ष्णता का सहन कर उद्विग्न न हो यह तृणस्पर्श परीषह है।

१८—उष्ण ऋतु आदि में प्रस्वेद आदि के द्वारा मलीनता के उत्पन्न होने पर दुर्गन्ध से व्याकुल न होना तथा मलीनता के निवारण के लिये स्नानादि की इच्छा न करना, इसको मल परीषह कहते हैं।

१९—किसी के द्वारा अपने स्तवन, नमन वा सत्कार को देखकर मन में हर्ष का न करना तथा सत्कार न होने से उद्विग्न न होना, इसको सत्कार परीषह कहते हैं।

२०—प्रज्ञा को प्राप्त होकर भी तत्सम्बन्धी गर्व को न करना तथा प्रज्ञा के न होने पर उद्विग्न न होना, इसको प्रज्ञापरीषह कहते हैं।

२१—शास्त्रादि सम्बन्धी ज्ञान न होने पर भी मन में उदासीनता का न करना इसका नाम अज्ञान परीषह है।

२२—शास्त्रीय विषय में सूक्ष्म विचार को सुन कर उस पर अश्रद्धा का न करना तथा देव, गुरु और धर्म पर अश्रद्धा का न करना इस को सम्यक्त्व परीषह कहते हैं।

(प्रश्न) दश प्रकार का साधु धर्म कौनसा है ?

(उत्तर) क्षमा, मार्दव, आर्जव, मुक्ति, तप, संयम, सत्य, शौच, अकिंचन और ब्रह्मचर्य्य, यह दश प्रकार का साधु धर्म है।

(प्रश्न) कृपा कर के इनका कुछ वर्णन कीजिये।

(उत्तर) इनका वर्णन अन्य ग्रन्थों में विस्तारपूर्वक किया गया है, यहां पर उनका संक्षिप्त वर्णन करते हैं—क्रोध के परित्याग को क्षमा कहते हैं, मान के परित्याग को मार्दव कहते हैं, कपट के त्याग को आर्जव कहते हैं, लोभ के परित्याग को अर्थात् निर्लोभता को मुक्ति कहते हैं, इच्छा के निरोध को तप कहते हैं, प्राणाति पातादि पांचों से

विरमण, पाँचों इन्द्रियों का निग्रह, चार कषायों का जय तथा तीन दण्डों से निवृत्ति को संयम कहते हैं, सत्य भाषण को सत्य कहते हैं, शौच दो प्रकार का है—द्रव्य शौच और भाव शौच। शरीर के अवयवों को पवित्र रखना तथा निर्दोष आहार का लेना; इसे द्रव्यशौच कहते हैं तथा कषायादि के परित्याग के द्वारा शुद्ध अध्यवसाय परिणाम को भाव शौच कहते हैं। मूर्छा रहित होकर समस्त परिग्रह के त्याग को अकिञ्चन कहते हैं—तथा सब प्रकार के मैथुन के परित्याग को ब्रह्मचर्य कहते हैं।

(प्रश्न) बारह भावनायें कौनसी हैं ?

(उत्तर) अनित्य भावना, अशरण भावना, संसार भावना, एकत्वभावना, अन्यत्वभावना, अशुचित्वभावना, आस्रवभावना, संवर भावना, निर्जराभावना, लोकस्वभावभावना, बोधिदुर्लभभावना तथा धर्म साधक अर्हद्भावना, ये बारह भावनायें हैं।

(प्रश्न) कृपया इनके स्वरूप का कुछ वर्णन कीजिये ?

(उत्तर) इनका विस्तार पूर्वक वर्णन दूसरे ग्रन्थों में किया गया है, यहाँ पर अतिसंक्षेप से स्वरूपमात्र का कथन किया जाता है:—

१—लक्ष्मी, यौवन, कुटुम्ब, परिवार और आयु आदि सर्व पदार्थों की अनित्यता के विचार को अनित्य भावना कहते हैं।

२—धर्म के अतिरिक्त कोई पदार्थ शरणदायक नहीं है; इस विचार को अशरण भावना कहते हैं।

३—संसार में जीव ने सर्वभवों का अनुभव किया है; इस विचार को संसार भावना कहते हैं।

४—यह जीव संसार मे अकेला आया है, अकेला जावेगा तथा अकेला ही सुख और दुःख का भोग करता है; इस विचार को एकत्व-भावना कहते हैं।

५—आत्मा ज्ञानरूप तथा शरीर जड़ रूप है; इसलिये ये दोनों भिन्न हैं; इस विचार को अन्यत्वभावना कहते हैं।

६—यह शरीर-रस, रक्त, मांस, मेदा, अस्थि, मज्जा और वीर्य आदि अशुचि पदार्थों से भरा है, यह कदापि पवित्र नहीं हो सकता है, इस विचार को अशुचित्वभावना कहते हैं।

७—मिथ्यात्त्व, अविरति, प्रमाद, कषाय तथा योग, इन पाँच प्रकार के आश्रव के द्वारा कर्मबन्ध होता है अथवा दया और दानादि के द्वारा शुभ कर्म बन्ध होता है तथा विषय और कषाय आदि के द्वारा अशुभ कर्म बन्ध होता है, इस विचार को आस्रवभावना कहते हैं।

८—जिस २ संवर के द्वारा जिस २ आश्रव का अवरोध होता है उस २ से उस आस्रव का रोकना तथा उस२ संवर का आदर करना, इसको संवर भावना कहते हैं।

९—तप के द्वारा कर्म को पचाने को निर्जराभावना कहते हैं।

१०—उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य के द्वारा लोक के स्वरूप का विचार करना, इसको लोक स्वभाव भावना कहते हैं।

११—जीव को सम्यक्त्व की प्राप्ति अति दुर्लभ है, इस विचार को बोधि दुर्लभ भावना कहते हैं।

१२—संसार समुद्र से पार करने वाले श्रीजिनेश्वर भगवान् का कहा हुआ जो दश प्रकार का शुद्ध धर्म है तथा ज्ञान, दर्शन और चारित्र, ये तीन रत्न हैं, इनका मिलना दुर्लभ है उस धर्म के साधक अर्हद् की प्राप्ति भी दुर्लभ है, इस विचार का नाम धर्मसाधकार्हद् भावना है।

(प्रश्न) पाँच चारित्र कौन से हैं?

(उत्तर) सामायिक, छेदोपस्थापनीय, परिहार विशुद्धिक सूक्ष्मसम्पराय तथा यथाख्यात चारित्र, ये पाँच चरित्र हैं।

(प्रश्न) कृपया इनके स्वरूप का कुछ वर्णन कीजिये?

(उत्तर) इनका विस्तारपूर्वक वर्णन दूसरे ग्रन्थों में किया गया है। यहां पर अति संक्षेप से इनका वर्णन किया जाता है—

१—जिसके द्वारा ज्ञान, दर्शन और चारित्र की प्राप्ति होती है उसको सामायिक[1] कहते हैं, सामायिक के दो भेद हैं—देश-विरति तथा सर्व विरति, इनमें से प्रथम श्रावक की और दूसरी साधु की होती है।

२—पूर्व कहे हुए सर्व विरतिरूप सामायिक चारित्र को ही विशेषता के द्वारा विशेषित करने पर शब्द और अर्थ के द्वारा वह अनेकत्त्व को प्राप्त होता है, तात्पर्य यह है कि प्रथम सामायिक की अपेक्षा विशुद्धतर सावद्ययोगविरति में अवस्थिति करना, अथवा विविक्ततर महाव्रतों का आरोपण करना, अथवा पूर्व पर्याय के छेद के साथ दूसरे पर्याय में उपस्थापन करना, इसको छेदोपस्थापनीय कहते हैं, यह दो प्रकार का है—सातिचार और निरतिचार।

३—सावद्ययोग[2] से विरति[3] होकर तपो विशेष से विशुद्ध होना, अथवा जिसके होने पर तपो विशेष से सावद्ययोगों से विरत[4] पुरुष की विशुद्धि होती है; उसको परिहारि विशुद्धिक चारित्र कहते हैं, यह भी दो प्रकार का है—निर्विश्यमानक और निर्विष्टकायिक।

४—अति सूक्ष्म संज्वलन लोभ कषाय की सत्ता[5] का विषय होना, अथवा गुणश्रेणि पर समारोहण[6] होने पर दशम गुणस्थान में वृत्ति होना, इस को सूक्ष्म सम्पराय चारित्र कहते हैं।

१—राग और द्वेष के विरह को सम कहते हैं, तद्रूपलाभ को समाय और उसी को सामायिक कहते हैं, अथवा अय नाम गमन का है (यह सब क्रियाओं का उपलक्षण है), राग और द्वेष से रहित साधु की सर्व क्रियाओं का फल निर्जरा है; उस प्रकार के सम का जो आय (लाभ) है उसे समाय कहते हैं और उसी का नाम सामायिक भी है।

२—गर्ह्य (निन्दनीय) योग। ३—वैराग्य, अनासक्ति, निवृत्ति। ४—निवृत्त, विरक्ति सम्पन्न। ५—विद्यमानता। ६—आरोहण (चढाव)।

५—समस्त चारित्र मोहनीय कर्म का उपशम[1] अथवा क्षय[2] होने पर शुद्ध आत्म स्वभाव में अवस्थान[3] की अपेक्षा का होना; इस को यथाख्यात चारित्र कहते हैं।

इस प्रकार से यह संवरतत्त्व का कथन किया गया है।

७—जिसके द्वारा एक देश से कर्मों का क्षय होता है उसको निर्जरा कहते हैं, तात्पर्य यह है कि—परिपक्व भाव को प्राप्त हुए कर्म के अवयवों का जो आत्म प्रदेशों से परिशाटन करना है उसको निर्जरा कहते हैं।

निर्जरा तत्त्व दो प्रकार का है—द्रव्य निर्जरा, और भाव निर्जरा, इन के अतिरिक्त निर्जरा के दो भेद और हैं-सकाम निर्जरा तथा अकाम निर्जरा।

पुद्गल कर्म के परिशाटन को द्रव्य निर्जरा कहते हैं तथा आत्मा के शुद्ध परिणाम के द्वारा परिपक्व कर्म की स्थिति का परिशाटन करना, इस को भाव निर्जरा कहते हैं, अथवा बारह प्रकार के तप के द्वारा नीरस किये हुए जो कर्म परमाणु हैं वे जिस के द्वारा परिशाटन को प्राप्त होते हैं, ऐसा जो आत्मा का परिणाम विशेष है उसको भाव निर्जरा जानना चाहिये, तिर्यग् आदि के समान इच्छा के बिना ही कष्ट का सहन करते हुए जो कर्म पुद्गलों का परिशाटन होना है उसको अकाम निर्जरा या द्रव्य निर्जरा कहते हैं तथा संयमवान् होकर बारह प्रकार के तप के द्वारा कष्ट का सहन करते हुए जो कर्म परमाणुओं का परिशाटन करना है उसको भाव निर्जरा अथवा सकाम निर्जरा कहते हैं, इन दोनों निर्जराओं में भाव निर्जरा अथवा सकाम निर्जरा उत्तम है।

(प्रश्न) बारह प्रकार के तप के द्वारा निर्जरा होती है यह बारह प्रकार का तप कौनसा है ?

१—शान्तावस्था। २—समूल नाश। ३—मर्यादिति।

(उत्तर) अनशन, ऊनोदरता, वृत्तिसंक्षेप, रसत्याग, कायक्लेश, संलीनता, प्रायश्चित्त, विनय; वैयावृत्य, स्वाध्याय,ध्यान और कायोत्सर्ग, ये तप के १२ भेद हैं, इन में से प्रथम छः तप वाह्य हैं तथा पिछले छः आभ्यन्तर कहे जाते हैं।

(प्रश्न) कृपा करके इनका कुछ वर्णन कीजिये।

(उत्तर) इनका विस्तारपूर्वक वर्णन दूसरे ग्रन्थों में किया गया है, यहां पर अति संक्षेप से उनका वर्णन किया जाता है:—

१—आहार के त्याग को अनशन तप कहते हैं, यह दो प्रकार का है—इत्वर और यावत्कथित, स्वल्पकालीन को इत्वर और सर्वकालीन को यावत्कथित कहते हैं।

२—अशन आदि की न्यूनता को ऊनोदरता कहते हैं, द्रव्य और भाव के द्वारा इसके दो भेद हैं।

३—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से वृत्ति का संक्षेप करना, इस को वृत्ति संक्षेप कहते हैं।

४—रसों के त्याग को रसत्याग तप कहते हैं।

५—लोच आदि कष्ट का सहन करना, कायोत्सर्ग करना तथा उत्कटिकादि आसनों का करना, इसका नाम कायक्लेश है।

६—अङ्ग और उपाङ्ग आदि के संवरण और गोपन को संलीनता कहते हैं, उसके चार भेद हैं—इन्द्रिय संलीनता, कषायसंलीनता, योगसंलीनता और विविक्तचर्या संलीनता।

७—किये हुए अपराध की शुद्धि के हेतु गुरु के सम्मुख उसे निष्कपट भाव से प्रकट कर आलोचना का ग्रहण करना, इसका नाम प्रायश्चित्त तप है, इस के दश भेद हैं—उन्हें ग्रन्थान्तरों में देख लेना चाहिये।

८—गुणवान् की भक्ति करना, तत्सम्बन्धिनी असातना को दूर करना, इसका नाम विनय तप है, इसके चार भेद हैं—ज्ञान विनय,

दर्शन विनय चारित्र विनय और उपचार विनय, इनके भी भेद और स्वरूपादि को दूसरे ग्रन्थों में देख लेना चाहिये ।

९—आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, तपस्वी, ग्लान, नवीन शिष्य, साधर्म्मी, कुल, गण और संघ की यथोचित सेवा करने को वैयावृत्य तप कहते हैं ।

१०—वाचना, पृच्छना, परिवर्त्तना, अनुप्रेक्षा तथा धर्म कथा के द्वारा स्वाध्याय करना, इसको स्वाध्याय तप कहते हैं ।

११—मन की एकाग्रता के आलम्बन को ध्यान कहते हैं, इसी का नाम ध्यान तप है, इसके चार भेद हैं—आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्म ध्यान तथा शुक्लध्यान तथा आर्त्तध्यान आदि के भी प्रत्येक के चार चार भेद हैं—उनका वर्णन दूसरे ग्रन्थों में देख लेना चाहिये ।

१२—उत्सर्ग तप के दो भेद हैं—द्रव्योत्सर्ग,[1] और भावोत्सर्ग,[2] द्रव्योत्सर्ग के चार भेद हैं—गणोत्सर्ग[3], देहोत्सर्ग[4], उपध्युत्सर्ग[5] तथा अशुद्ध भक्त पानो सर्ग,[6] तथा भावोत्सर्ग के तीन भेद हैं—

कषायोत्सर्ग,[1] भावोत्सर्ग[2] और कर्मोत्सर्ग,[3] इन सब भेदों का वर्णन दूसरे ग्रन्थों में देख लेना चाहिये, विस्तार के भय से यहाँ नहीं लिखा गया है ।

यह संक्षेप से निर्जरा तत्व का वर्णन किया गया ।

८—नवीन कर्मों के साथ में प्राचीन कर्मों के योग को बन्ध कहते हैं, बन्ध चार प्रकार का है—प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेश बन्ध, इनमें से स्वभाव के अवस्थान से बन्ध को प्रकृतिबन्ध कहते हैं,

---

१—द्रव्य के द्वारा त्याग । २—भाव के द्वारा त्याग । ३—गण का त्याग । ४—शरीर का त्याग । ५—वस्त्र आदि का त्याग । ६—अशुद्ध आहार और जल का त्याग ।

नियमित काल तक स्थिति को स्थितिवन्ध कहते हैं, कर्म के द्विस्थानकादि रस के वंध को अनुभाग वन्ध कहते हैं तथा दल सञ्चय रूप वन्ध को प्रदेश वन्ध कहते हैं, कर्म आठ प्रकार का है—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय आयुःकर्म, नामकर्म, गोत्र कर्म और अन्तरायकर्म[1]। ज्ञानावरणीय कर्म पाँच प्रकार का है,—मतिज्ञानावरणीय, श्रुतज्ञानावरणीय, अवधिज्ञानावरणीय, मनः पर्यायज्ञानावरणीय और केवल ज्ञानावरणीय।

दर्शनावरणीय कर्म चार प्रकार का है—चक्षुदर्शनावरणीय, अचक्षुदर्शनावरणीय, अवधि दर्शनावरणीय तथा केवलदर्शनावरणीय।

सुख और दुःख के विपाक का अनुभव वेदनीय कर्म का स्वभाव है। जीव के सम्यक्त्व आदि गुणों को रोकने के स्वभाव वाला मोहनीय कर्म है।

जीव के अविनाशी गुण के रोकने के स्वभाव वाला आयुःकर्म है।

जीव के अरूपी गुण को रोकने के स्वभाव वाला नाम कर्म है।

जीव के अगुरु लघु गुण को रोकने के स्वभाव वाला गोत्र कर्म है।

जीव की अनन्त दानादि शक्ति को रोकने के स्वभाव वाला अन्तराय कर्म है।

ज्ञानावरणीय कर्म की पाँच प्रकृतियाँ हैं, दर्शनावरणीय कर्म की नौ प्रकृतियाँ हैं वेदनीय कर्म की दो प्रकृतियाँ हैं मोहनीय कर्म की अट्ठाईस प्रकृतियाँ हैं, आयुः कर्म की चार प्रकृतियाँ हैं, नाम कर्म की एकसौ तीन प्रकृतियाँ हैं, गोत्र कर्म की दो प्रकृतियाँ हैं तथा अन्तराय कर्म की पाँच प्रकृतियाँ हैं, ये सब मिल कर १५८ प्रकृतियाँ हैं।

१—इन कर्मों का संक्षेप से वर्णन तीसरे परिच्छेद के चौथे पाठ में किया जावेगा।

ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय तथा अन्तराय इन चार कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोटाकोटी सागरोपम की है, मोहनीय कर्म की स्थिति सत्तर कोटाकोटी सागरोपम की है, नाम कर्म और गोत्र कर्म की स्थिति बीस कोटाकोटी सागरोपम की है तथा आयु कर्म की स्थिति तेतीस सागरोपम की है। वेदनीय कर्म की जघन्य स्थिति बारह मुहूर्त्त की है, नाम कर्म और गोत्र कर्म की जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त्त की है, शेष पाँचों कर्मों की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की है।

शुभ प्रकृतियों का मन्द रस सङ्क्लेश परिणाम के द्वारा बँधता है और अशुभ प्रकृतियों का मन्द रस विशुद्धि के द्वारा बँधता है, अशुभ प्रकृतियों का तीव्र व रस सङ्क्लेश परिणाम से बँधता है तथा शुभ प्रकृतियों का तीव्र रस विशुद्धि के द्वारा बँधता है, प्रकृतियों के एक स्थानकादि रसों का स्वरूप दूसरे ग्रन्थों में देख लेना चाहिये तथा प्रदेश बन्ध का स्वरूप भी दूसरे ग्रन्थों में देख लेना चाहिये।

(प्रश्न) बन्ध के मुख्य हेतु कौन २ से हैं ?

(उत्तर) मिथ्या दर्शन, अविरति, कषाय, और योग, ये बन्ध के कारण हैं।

(प्रश्न) हाथ आदि के न होने पर ग्रहण शक्ति के न होने के कारण अमूर्त्त आत्मा का कर्म ग्रहण के लिये व्यापार कैसे हो सकता है ?

(उत्तर) जैन सिद्धान्त को न जानने के कारण तुम को यह शङ्का उत्पन्न होती है, हम तुम से पूछते हैं कि आत्मा को अमूर्त्त कौन मानता है ? किन्तु आत्मा तो कर्म और जीव का सम्बन्ध अनादि होने से से एकता का परिणाम होने पर दुग्ध और जल के समान अथवा अग्नि और अयोगोलक के समान मूर्त्त ही है, कार्मण शरीर का सम्बन्ध होने से कर्म के ग्रहण में उसका व्यापार होता है, इसलिये शङ्का का कोई स्थान नहीं है, किञ्च सकषायत्व लक्षण रूप हेतु से जीव कर्म के योग्य पुद्गलों का ग्रहण करता है।

यह संक्षेप से बन्ध तत्व का विषय कहा गया ।

९—आत्म प्रदेशों से सर्वथा कर्मों के क्षय को मोक्ष कहते हैं, तात्पर्य यह है कि मोहनीय कर्म के क्षीण होने पर तथा ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय तथा अन्तराय कर्म के क्षीण होने पर केवल ज्ञान और केवल दर्शन उत्पन्न होते हैं, इन्हीं चारों प्रकृतियों का क्षय होना केवल ज्ञान का हेतु है, इसलिये उक्त प्रकृतियों का क्षय होने से केवल ज्ञान उत्पन्न होता है ।

इस तत्व का विस्तारपूर्वक वर्णन चौथे परिच्छेद के दूसरे पाठ में किया जावेगा ।

(प्रश्न) आपने कृपा करके नव तत्त्वों का खूब वर्णन किया, अब इस सम्बन्ध में एक वात आपसे यह पूछनी है कि हमने सुना है कि नव तत्त्वो के सीखे विना सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं हो सकती है, क्या यह वात ठीक है ?

(उत्तर) यह वात सर्वथा सूत्र से विरुद्ध है, देखो ! उत्तराध्ययन सूत्र में २८ वें अध्ययन में दश प्रकार की रुचि का वर्णन किया गया है ।

निसग्गा उव एस आणारुइ सुतबीय रुइमेव ।
अभिगमवित्थारुइ किरिया संखेव धम्म रुइ ॥ १ ॥

इन दशों रुचियों में से नवीं संक्षेप रुचि है, संक्षेप रुचि का भाव यह है कि जिनराज की वाणी को सुनना तथा जिन मार्ग को सच्चा समझना, देखो ! खन्दक संन्यासी, विजयघोष ब्राह्मण, श्रेणिक राजा तथा संयती राजा आदि जनों ने पहिले नव तत्त्व को कब सीखा था, अर्थात् नव तत्त्व के सीखने से पूर्व ही ये सब सम्यक्त्वी होगये थे, भगवती सूत्र में कहा है कि—साधु महापुरुषों के दर्शनार्थ जाने से दश फलों की प्राप्ति होती है—उनमें से प्रथम फल ज्ञान का सुनना कहा है, दूसरा फल श्रद्धा का होना कहा[1] है, तथा तीसरा फल विज्ञानकी

१—इसी का नाम सम्यक्त्व है ।

प्राप्ति कहा गया है, अब देखो कि सम्यक्त्व दूसरा फल कहा गया है तथा विज्ञान तीसरा फल कहा गया है, यदि नव तत्त्वों के ज्ञान के बिना सम्यक्त्व न होता तो सम्यक्त्व को दूसरा और विज्ञान को तीसरा क्यों कहा जाता, अत जो लोग यह समझते हैं कि नव तत्त्वों के परिज्ञान के विना सम्यक्त्व नहीं होता है, यह उनका भ्रम मात्र है, देखो ! नवतत्त्वों का विज्ञान करना एक प्रकार का विशेष बोधरूप है, किश्च श्रद्धा के विना नवतत्त्वों का परिज्ञान भी व्यर्थ रूप है, इस विषय में यह समझना चाहिये कि वृक्ष के तने के समान सम्यक्त्व है तथा उसकी शाखा, प्रशाखा, पत्र, पुष्प और फल के समान नवतत्त्व परिज्ञान है, जिस प्रकार मे वृक्ष का तना न होने से शाखा और प्रशाखा आदि नहीं हो सकतीं या रह सक्ती हैं, उसी प्रकार सम्यक्त्व के विना नवतत्त्वों का परिज्ञान भी अकिञ्चित्कर होता है, इस विषय में वक्तव्य तो बहुत कुछ है, परन्तु विस्तार के भय से उसका उल्लेख नहीं किया जाता है ।

❀ इति प्रथम परिच्छेद ❀

द्वितीय परिच्छेद

१—कुमार-शिक्षण।

प्राकृतिक नियम है कि प्रत्येक कार्य को उस कार्य के करने की योग्यता से सम्पन्न पुरुष ही कर सकता है किन्तु जो उस कार्य की योग्यता से सम्पन्न नही है वह कदापि उस कार्य को नहीं कर सकता है, यदि किसी गँवार पुरुष से कहा जावे कि वह शास्त्र का उपदेश करे तो वह कैसे कर सकता है? यही वात प्रत्येक कार्य के विषय में समझनी चाहिये, कर्त्तव्य का पालन भी एक गम्भीर और वड़ा कार्य है अतएव योग्यता-सम्पन्न पुरुष ही उसे कर सकता है, इस योग्यता को उत्पन्न करने वाला साधन कुमार-शिक्षण है अर्थात् वाल्यावस्था में माता-पिता आदि के द्वारा सन्तान को यदि उत्तम शिक्षा दी जाती है तो उस की वुद्धि निर्मल होती है तथा हृदय में शुभ संस्कार उत्पन्न होते हैं, वस इसी उत्तम शिक्षा और शुभ संस्कारों के द्वारा संतान योग्य वन कर जीवन पर्यन्त अपने कर्त्तव्य का पालन करता रहता है, आजकल धर्माचरण में जो त्रुटि दीख पड़ती है उस का मुख्य कारण वाल्यावस्था में योग्य शिक्षा का न मिलना ही है, पूर्वकाल में उच्च विचारवाली वालक की मातायें ही वालकों के उन उच्च विचारों को वना देती थीं तथा उन के हृदयों में उन शुभ संस्कारों का प्रवेश कर देती थीं कि जिन के प्रभाव से वालक देश-सेवा, परोपकार तथा वीरत्त्व आदि सद्‌गुणों से युक्त होकर अपने कर्त्तव्य का पालन करते थे, एक अंग्रेज़ विद्वान का यह मन्तव्य है कि वालक अठारह महीने की

आयु तक माता की गोद में जो कुछ शुभाशुभ सस्कार धारण कर लेता है वह सस्कार जन्म भर उस के हृदय में स्थित रहता है, वर्त्तमान मे योग्य शिक्षा की यात तो दूर गई उलटा अपठित मातायें बालकों को "हौआ" आदि के अनेक प्रकार के भय दिखला कर उन को ऐसा कुसस्कार युक्त और भीरु कर देती हैं कि वह सस्कार और भीरुत्व जन्म भर उन का पीछा नहीं छोड़ता है, पाठक जन सोच सकते हैं कि ऐसे भीरु और कुसस्कार युक्त निर्बल हृदय बालक साहस और वीरता का क्या कार्य कर सकते हैं ? प्राचीन समय की वीर प्रसविनी मातायें अपने सतानों को ऐसे शुभ सस्कारों से युक्त बनाती थीं कि उन के सन्तान वीरत्व, साहस और उत्साह आदि गुणों को धारण कर अपने प्राण परित्याग के द्वारा भी अपने कर्त्तव्य से पराङ्मुख नहीं होते थे, उदाहरण के लिये आप विदुला और अञ्जना आदि महिलाओं की जीवनी को पढ़िये तथा द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा, अभिमन्यु, युधिष्ठिर, अर्जुन और भीम आदि की ओर देखिये कि अपनी वीर-प्रसविनी माताओं से शुभ सस्कार युक्त बनाये हुए वे लोग कैसे २ साहस के कार्य कर गये हैं, वर्तमान में इस भारत-भूमि में उनके समान कदाचित् ही कोई दृष्टि-गत होता होगा, क्या यह परम दु ख और भारत के दुर्भाग्य का विषय नहीं है ?

पजाब के एक लघु बालक हकीकतराय का जीवन चरित्र पाठकों ने पढ़ा होगा तथा जानते होंगे कि उक्त बालक ने कितने बड़े २ कष्टों का सामना किया, कितनी आपत्तिया झेलीं और अन्त में अपने प्राणों तक की कुछ परवा न कर अपने धर्म को नहीं छोड़ा, इसका एक मात्र कारण बाल्यावस्था में प्राप्त योग्य शिक्षा तथा शुभ सस्कार ही था।

प्राचीन काल में कितनी ही महिलाओं ने अनेक त्रास, भय, यातना और प्राणकष्ट का भी सहन कर अपने सतीत्व को बचाया था, जिसके सैकड़ों उदाहरण इतिहासों में वर्णित हैं, वर्त्तमान में भी

जो महिलायें शुभ-संस्कार-युक्त हैं तथा अपने कर्त्तव्य को समझती हैं वे प्राणसंकट का सहन करके भी अपने सतीत्त्व की रक्षा करती हैं; किन्तु जो शुभ संस्कार युक्त नहीं होती हैं वे थोड़े ही निमित्त से अपने अनुपम और अमूल्य सतीत्त्व को खो देती हैं।

प्रत्येक मनुष्य कार्याकार्य अथवा उसके फल समय में कहा करता है कि—"संस्कार की वात है" यह विलकुल सत्य है, क्योंकि संसार में सव कुछ संस्कार से ही होता है, परन्तु उस योग्य संस्कार का वनना कुमारावस्था में सत्यशिक्षा पर निर्भर है; इसलिये माता पिता का कर्त्तव्य है कि वे अपने सन्तान को वाल्यावस्था में अवश्य उत्तम शिक्षा तथा शुभ संस्कारों से सम्पन्न करें कि जिससे वह सन्तान जीवन-पर्यन्त अपने कर्त्तव्य का पालन कर अपने जीवन को सफल करे, माता पिता की कीर्त्ति को विस्तृत करे तथा कुल को उज्ज्वल करे।

२—ब्रह्मचर्य।

वर्त्तमान समय में ब्रह्मचर्य सेवन की जो कुदशा हो रही है उसको देख कर रोमाञ्च होता है, हमारे वहुत से भाई तो यह भी नहीं जानते हैं कि ब्रह्मचर्य किस चिड़िया का नाम है और उसका सेवन कैसे होता है, उनके परिज्ञान के लिये लिखा जाता है कि पूर्ण युवावस्था पर्यन्त मन और इन्द्रियों का दमन कर काम विकार से रहित होकर रज और वीर्य की सर्वथा रक्षा करते हुए जो विद्याभ्यास करना है उसे ब्रह्मचर्य-सेवन कहते हैं, पूर्वकाल में पुरुष अधिक से अधिक ४८ वर्ष तक तथा कम से कम २४ वर्ष तक इस नियम का सेवन करते थे और इससे पूर्व स्त्री की ओर आंख उठा कर भी नहीं देखते थे और वह इसलिये कि कहीं काम विकार उत्पन्न होकर ब्रह्मचर्य में वाधक न हो जावे, स्त्रियां भी पूर्वकाल में कम से कम १६ वर्ष तक तथा अधिक से अधिक ३० वर्ष तक ब्रह्मचर्य का सेवन कर विद्याभ्यास करती थीं तथा पूर्वोक्त समय के बीत जाने पर योग्य स्त्री पुरुषों का परस्पर में विवाह संस्कार होता था।

ब्रह्मचर्य की नियत अवधि से पूर्व पुरुषों के लिये धर्मशास्त्र में माता, बहिन और पुत्री आदि के भी पास एकान्त में बैठने का निषेध किया गया है, कारण यही है कि इन्द्रिय समूह अति बलवान् है, कहीं वह मन को चलायमान न करदे, इसीलिये पूर्व समय में ब्रह्मचारी जन स्त्री रहित स्थान में निवास करते थे तथा नगर आदि में निवास करने पर कामोत्पादक सम्भाषण और कथा आदि से सर्वथा विरक्त होकर स्त्री के मुख आदि अङ्गों की ओर कभी दृष्टि तक नहीं डालते थे।

श्रीमहाराज रामचन्द्र जी की धर्म पत्नी महारानी सीता जी अपने हरण-समय में अपने आभूषणों को अङ्ग से उतार २ कर मार्ग में फेंकती गई थीं, जब श्री रामचन्द्र जी लक्ष्मण-सहित सीता जी को वन में ढूँढने को निकले और उन को मार्ग में पूर्वोक्त आभूषण मिले तब वे उन्हें पहचानने के लिये लक्ष्मण जी को दिखलाने लगे, तब लक्ष्मण जी विनयपूर्वक बोले कि —

केयूरौ नैव जानामि, नैव जानामि कुण्डले।
नूपुरानेव जानामि, नित्य पादाभिवन्दनात्॥

अर्थात्—हे महाराज! मातु श्री सीताजी के मुख आदि अङ्गों का कभी दर्शन न करने से मैं उनके केयूरों को नहीं पहिचानता हूँ तथा मैं उनके कुण्डलों को भी नहीं पहिचानता हूँ, हाँ मैं उनके नूपुरों को अवश्य पहिचानता हूँ, क्योंकि प्रति दिन चरणों को नमस्कार किया करता था ॥१॥

देखिये—युक्त वाक्य से सिद्ध होता है कि ब्रह्मचारी लक्ष्मण जी मातृ तुल्य अपनी भावज की ओर कभी दृष्टि भी नहीं डालते थे, ऐसे सहस्रों उदाहरण हैं, जिनका उल्लेख करना असम्भव है। महर्षि पतञ्जलि जी ने अपने योगशास्त्र में कहा है कि —

"ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठायां वीर्यलाभः।"

अर्थात् ब्रह्मचर्य का सेवन करने से ही मनुष्य को वीर्य (पुरुषत्त्व वा पराक्रम) का लाभ हो सकता है, यह कथन बिल्कुल ही सत्य है; क्योंकि पुरुषत्त्व की प्राप्ति वीर्य रक्षा पर निर्भर है, सत्य पूछो तो मानव जीवन रूपी मकान की नींव ब्रह्मचर्य ही है, जैसे कमज़ोर नींव वाला मकान चिरस्थायी नही रह सकता है उसी प्रकार ब्रह्मचर्यरूपी नींव से रहित मानव जीवनरूपी प्रासाद भी अस्थायी होता है।

ब्रह्मचर्य का ठीक रीति से पालन न करने से शरीर दृढ़ और पुष्ट कदापि नहीं रह सकता है तथा शरीर के निर्बल होने से अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न हो कर सदा उसे पीड़ित करते ही रहते हैं, रोगी मनुष्य अपने सांसारिक कामों को भी पूर्ण नहीं कर सकता है तो फिर परमार्थ-साधन का तो क्या कहना है।

ब्रह्मचारी मनुष्य को प्रथम तो रोग ही उत्पन्न हो कर व्यथित नहीं करते हैं, यदि कारण विशेष से कोई रोग उत्पन्न भी हो जाता है तो वह शीघ्र ही नष्ट हो जाता है, क्योंकि ब्रह्मचारी मनुष्य की शारीरिक परिस्थिति ही ऐसी हो जाती है कि उसमें रोग चिरकाल तक नहीं ठहर सकता है, ब्रह्मचारी पुरुष शीत, उष्ण आदि द्वन्द्वों का सहन करने में भी समर्थ होता है और उनका सहन करना धर्म-पालन का एक प्रधान साधन है, ब्रह्मचारी पुरुष के पास से भीरुता, असाहस और अनुत्साह आदि दुर्गुण इस प्रकार से भाग जाते हैं जैसे कि सूर्य के प्रकाश के सामने अँधेरा भाग जाता है, इस प्रकार ब्रह्मचर्य के अनुपम महत्त्व का विचार कर प्रत्येक मनुष्य को उसका सेवन कर विद्याभ्यास करना चाहिये कि जिससे उसकी जीवन यात्रा सुख से व्यतीत हो तथा आत्मा का कल्याण हो।

३—योग्य विवाह।

पूर्व पाठ में कहा जा चुका है कि—नियमानुसार उचित समय तक ब्रह्मचर्य्य का पालन कर तथा ब्रह्मचर्य्य की अवधि के पूर्ण होने पर योग्य स्त्री पुरुषों का परस्पर मे विवाह होना चाहिये

और ऐसा ही पूर्व काल में होता भी था, किन्तु वर्त्तमान समय में इस योग्य विवाह की जो दुर्दशा हुई है उसको देख कर हृदय अत्यन्त विह्वल हो रहा है और उसका वर्णन करते हुए लेखनी कांपती है, युवावस्था को प्राप्त हुए स्त्री पुरुषों के विवाह के स्थान में वर्त्तमान में गुड्डा गुड़ियों के समान भी बालक और बालिकाओं का का विवाह देखा जाता है, जो बेचारे यह भी नहीं जानते हैं कि विवाह किस चिड़िया का नाम है, हमारे मारवाड़ी भाइयों ने तो इस विषय में और भी अधिक उन्नति कर नाम प्राप्त किया है कि इनके यहां कहीं २ गर्भस्थ ही बालक और बालिकाओं की सगाई पक्की कर दी जाती है तथा उत्पन्न होने के पश्चात् यथासम्भव शीघ्र ही उनका विवाह भी कर दिया जाता है, ठीक है जो काम करना ही है उसमें विलम्ब क्यों किया जावे ?

कहीं २ अल्प वय वाले वर के साथ उसकी अपेक्षा अधिक अवस्था वाली कन्या का विवाह होता है जिसका परिणाम श्रीकृष्णचन्द्रजी महाराज के—"सङ्करो नरकायैव" इस वाक्य के अनुसार यही होता है कि वर्णसङ्कर सन्तान उत्पन्न होकर वंश के लिये नरक का द्वार खोल देते हैं।

कहीं २ हमारे भाइयों में से वृद्धों पर दया करने वाले ऐसे भी भाई देखे जाते हैं कि वे कन्या के भार की अपेक्षा द्विगुण, त्रिगुण, चतुर्गुण, वा दश गुण तक नक़दा नक़द गिना कर वलियुक्त तथा पलित केश बूढ़े बाबा को स्वकन्या को सौंप कर अपने वृद्ध स्नेह के कारण अपनी कुमारी का भी बलि प्रदान कर अपने मानुषी धर्म का परिचय देते हैं, परिणाम चाहे कुछ भी हो, इससे उन्हें क्या प्रयोजन है ? वह सुकुमाराङ्गी बालिका मा बाप को गालियां दे दे कर फूट २ कर विलाप करे तो उन्हें क्या ? अथवा कुमार्ग गामिनी होकर दोनों कुलों को कलङ्कित करे तो भी उन्हें क्या ? वीर पुरुष सुख दुःख की परवा नहीं करते हैं।

अय भारत के सुपुत्रो ! थोड़ी देर के लिये चित्त को एकाग्र कर सुनो—इस अयोग्य विवाह से आज दिन यह भारत विधवा विलापागार वन रहा है अर्थात् इसमें औरों का तो क्या कहना है; पांच वर्ष तक की विधवा वालिकायें तुम्हारी ओर देख देखकर आहें भर रही हैं, क्या तुम्हें उन पर तनिक भी तर्स नहीं आता है ? क्या लाखों विधवाओं की आह पर आपका पत्थर के समान हृदय तनिक भी नहीं पसीजता है ? अयोग्य विवाह के कारण होती हुई हजारों लाखों भ्रूण हत्याओं और वालहत्याओं को देख क्या तुम्हारा हृदय तनिक भी नहीं कांपता ? वा तुम्हारे नेत्रों से एक भी जलविन्दु नहीं गिरता ? वाह ! भारत के वीर पुत्रो ! अपनी वीरता का खूब परिचय दे रहे हो ! तनिक तो विवेकशक्ति और वुद्धि से काम लो और सोचो कि हमें क्या करना चाहिये और हम क्या कर रहे हैं।

देखो ! जिन देशों में और जिन जातियो में अयोग्य विवाह का प्रचार नहीं है वे देश और जातियां प्रतिदिन उन्नति करती जाती हैं, उनमें ऐसे प्रभावशाली वीर पुरुष उत्पन्न होते हैं कि उनके प्रभाव का वर्णन नहीं हो सकता है, विचार कर देखने से पता लगता है कि भारत के इस प्रकार अध.पतन का अन्य कारणों के अतरिक्त एक प्रधान कारण अयोग्य विवाह भी है, वर्त्तमान समय में जो प्रत्येक जन तनछीन, मन-मलीन और चित्त में उदासीन दीख पड़ता है उसका कारण शारीरिक और मानसिक वल का ह्रास अयोग्य विवाह से होता है जो कि ब्रह्मचर्य की जड़ को उखाड़ने के लिये कुठार के समान है, अयोग्य विवाह के द्वारा ब्रह्मचर्य का खण्डन होने से शारीरिक तथा मानसिक शक्तियो का जो ह्रास होता है तथा दुर्वलेन्द्रिय और अयोग्य सन्तान उत्पन्न होते हैं, इन सब विषयों का वर्णन जैन सिद्धान्त में तथा अन्य मतावलम्बियों के आयुर्वेद शास्त्र आदि में विस्तार पूर्वक किया गया है, यहां पर विस्तार के भय से उसका कुछ भी उल्लेख नहीं किया जाता है, वुद्धिमान को उचित है कि संकेतमात्र से प्रत्येक विषय को समझ

कर उसके लाभ और हानि पर अपनी दृष्टि डाले, ऐसा कर जो २ हानिकारक विषय हैं उनका परित्याग कर लाभकारी विषयों में प्रवृत्ति करे, बस ऐसा करने से ही मनुष्य का कल्याण हो सकता है।

४—उचित व्यय वा अपव्यय-त्याग।

प्रत्येक मनुष्य को यह समझना चाहिये कि लोक और परलोक के सुख की प्राप्ति के लिये धन भी एक प्रधान साधन है, यदि द्रव्य न हो तो मनुष्य को उत्तम स्थान, भोजन, वस्त्र और यान आदि सुख सामग्री कहा से उपलब्ध हो सकती हैं और उसके विना सासारिक सुख कैसे मिल सकता है? इसी प्रकार द्रव्य के विना सुपात्र-दान आदि साधन के न होने से परलोक-सुख-प्राप्ति भी दुर्लभ है, इसी विषय को विचार कर नीति शास्त्र आदि ग्रन्थों में धन की प्रशसा की गई है तथा धनहीन अर्थात् दरिद्र पुरुष को मृतवत् कहा गया है, एक महात्मा ने कहा भी है कि —

नहितद्विद्यते किञ्चिद् यदर्थेन न सिध्यति।
यत्नेन मतिमाँस्तस्मादर्थमेकं प्रसाधयेत् ॥ १ ॥

अर्थात्—ऐसा कोई कार्य नहीं है कि जो धन से सिद्ध नहीं हो सकता है, इसलिये बुद्धिमान् पुरुष को चाहिये कि समुचित प्रयत्न कर धन को एकत्रित करे ॥१॥

विचार कर देखने से यह बात अधिकाश में ठीक प्रतीत होती है, क्योंकि सासारिक सब ही कार्यों की सिद्धि धन के द्वारा ही हो सकती है, परलोक के साधन शास्त्र, शास्त्राभ्यास, गुरुभक्ति और सुपात्र दान आदि के लिये भी धन की आवश्यकता है, ऐसे उत्तम पदार्थ धन का आदर मनुष्य को अवश्य करना चाहिये, इससे यह तात्पर्य नहीं है कि धन को कमा २ कर अथवा बाप दादे की सम्पत्ति को पाकर मनुष्य को पृथ्वी में गाड़ कर अथवा तिजोरियों में बन्द करके रखना चाहिये, नहीं, नहीं, उक्त कथन का तात्पर्य यह है कि मनुष्य को प्रथम तो उद्यम

कर न्यायपूर्वक धन का उपार्जन करना चाहिये, पीछे उसे योग्य कार्यों में उचित रीति से व्यय करना चाहिये, दान; भोग और नाश, ये तीन गतियां धन की होती हैं, इसलिये मनुष्य को उचित है कि—धन को पाकर यथाशक्ति देश; काल और पात्र का विचार कर दान करे, यह धन की प्रधान अर्थात् मुख्य गति है, दूसरी मध्यम गति भोग है अर्थात् अपनी सांसारिक यात्रा के लिये अथवा अपने सन्तान आदि गार्हस्थ कार्यों के लिये उसे व्यय करे, परन्तु इस गति का उपयोग करते समय मनुष्य को उचित व्यय और अनुचित व्यय की ओर अवश्य ध्यान दे कर उचित व्यय को करना चाहिये तथा अनुचित व्यय को छोड़ना चाहिये, क्योंकि सांसारिक कार्यों में शक्ति से अधिक अर्थात् अनुचित व्यय हो जाने से पारमार्थिक कार्यों के व्यय में वाधा पड़ती है, प्रायः लोगों को कहते हुए भी सुना है कि—"अभी हम लड़के वा लड़की की लग्न में शक्ति से अधिक इतना द्रव्य खर्च कर चुके हैं इसलिये हम इस समय इस धार्मिक कार्य में सहायता नहीं कर सकते हैं" उनसे पूछना चाहिये कि लग्न में तुमने शक्ति से अधिक इतना खर्च क्यों किया, जो तुम पारमार्थिक कार्य में मुँह छिपाते हो ? क्या लग्न में शक्ति से अधिक व्यय करते समय तुम्हे अपने मानुषी धर्म का कुछ विचार नहीं था ? परन्तु वात तो यह है कि भोले धनिकजन थोड़ी देर की वाहवाही को अथवा एक दो दिन के धन्यवाद को अपनी नामवरी का प्रधान कारण समझ आगे पीछे का कुछ भी विचार न कर लग्न आदि के समयों में द्रव्य का ऐसा अपव्यय करते हैं कि जिसका कुछ ठिकाना नहीं है, धन के मद, अपने अविवेक तथा स्वार्थीजनों के प्रोत्साहन से उनके विचार प्रायः इस प्रकार के होते हैं अर्थात् वे यह समझा करते हैं कि—"जब धन है तब निर्धनियों के साथी उचित व्यय का हमारे यहाँ क्या काम है ? हमको धन इसीलिये प्राप्त हुआ है कि हम उचित व्यय का तिरस्कार कर उसे परास्त करें, नहीं तो धन की शोभा ही क्या है ? जैसे प्रकाश के आगे अँधेरा रहने का अधिकारी नहीं है ठीक

उसी प्रकार हमारी भाग्यवानी के साथ बेचारे उचित व्यय को रहने का अधिकार प्राप्त नहीं है।" इत्यादि, ये तो हुए धनिकों के विचार, अब स्वार्थीजन उनके उक्त विचारों को अपने प्रोत्साहन आदि के द्वारा जिस प्रकार और भी पुष्ट और सुदृढ करते हैं, उसे भी सुनिये—वे (स्वार्थीजन) निम्नलिखित युक्तियों को घड़ कर उनसे कहा करते हैं कि—"सेठ साहब! विवाहादि अवसरों पर केवल जीमणवार आदि में तीस २ चालीस २ हजार रुपया भी यदि आप खर्च करें तो आपके लिये ऐसा करना अयोग्य नहीं है, किन्तु आपके स्वरूप के योग्य ही है, हमने माना कि यह रकम बड़ी है परन्तु आप सोचिये तो सही कि बड़ी रकम होने पर भी यह रुपया तो परिमित है किन्तु सौभाग्यशाली भोजन प्रिय सज्जनों को जो आपके द्वारा आनन्द प्राप्त होता है तथा उनके द्वारा जो आपकी वाहवाह और अपूर्व धन्यवाद मिलता है चाहें वह दो घड़ी का ही क्यों न हो उसका आनन्द आपके लिये अपरिमित है, यदि आप पूर्वोक्त कामों में उचित व्यय को आश्रय दें तो यह आनन्द आपको कदापि प्राप्त नहीं हो सकता है, ऐसे अवसरों पर उचित व्यय को यदि थोड़ा भी अवकाश दिया जावे तो आपकी नामवरी तो दूर रही उलटी आपकी अपकीर्ति हो कि—अमुक बड़ा कृपण है कि ऐसे अवसर पर भी धन का मुँह देखता है, धन तो संसार में यों ही आता और जाता रहता है, किन्तु बेटा बेटी के परणाने का सौभाग्य बड़े पुण्य से मिलता है, आप इस बात को भी सोचो कि यदि मन्दभाग्य उचित व्यय को आपके यहां स्थान मिले तो सर्व मनुष्य प्यारी, नहीं, नहीं, रामप्यारी के के हाव, भाव, कटाक्ष, अपाङ्ग दृगों और मधुर स्वरों से हजारों रसिकजनों को जो आपके द्वारा आनन्द प्राप्त होता है वह कैसे हो सके? यदि मक्खीचूस उचित व्यय की नसीहत को आप मानें तो हजारों रुपयों का व्यय कर जो आतिशबाजी छुड़ाई जाती है, फुलवाड़ी लुटाई जाती है तथा परम सुहावने बाजों के साथ में अपूर्व दृश्य वाली जो बन्दौली निकाली जाती है और जिसे देखने के लिये सारा नगर दौड़ता

है; भला उसका आनन्द लोगों को कैसे मिले और कोई कैसे जाने कि अमुक के बेटे वा बेटी का आज ब्याह है ? वाहवाह ! वह ब्याह ही क्या जिसे कोई न जाने, ब्याह शादी तो उजागर ही अच्छे लगते हैं, उचित व्यय करने वाले तो यह सलाह दिया करते हैं कि थोड़ा खर्च करो, भला थोड़े खर्च मे ऊपर कहा हुआ आनन्द कभी प्राप्त हो सकता है और ऊपर लिखित प्रसिद्धि कभी हो सकती है ? भला सोचने की बात है यदि ऐसे ही अवसरों पर थैलियों के मुंह न खोले जावें तो क्या क़यामत में उनके मुंह खोलने का मौक़ा मिलेगा ? सेठ साहब ! सुनिये—बेचारे उचित व्यय कर्त्ता तो जितनी उनमें बुद्धि है उतनी बात करते हैं, वे तो यह कहा करते हैं कि—इतनी बड़ी रक़म वेश्या-नृत्य, आतिशबाजी, फुलवाड़ी, बन्दोली तथा जीमणवार में न लगाकर किसी परोपकारी कार्य में लगाओ, देशोद्धारक कार्य में लगाओ, विद्यालय में लगाओ और दीन-पालन में लगाओ तो तुम्हारा चिर समय तक नाम रहेगा, सभ्य-समाज में तुम्हारा गौरव होगा, पुण्य का लाभ होगा तथा उसके द्वारा स्वर्गीय सुख की प्राप्ति होगी, इत्यादि, अब आप उनकी प्रलोभन रूप इन बातों का खण्डन सुनिये—उन लोगों की यह शिक्षा उलटी है; क्योंकि पहिले अपना उपकार किया जाता है पीछे परोपकार सूझता है, फिर देखो कि परोपकार की आवश्यकता ही क्या है ? कर्मानुसार जो जैसे है वे वैसे हैं, उनका उपकार क्या ? उनका देशोद्धार का विषय नितान्त निर्मूल है, देश के उद्धार की आवश्यकता ही क्या है ? क्या देश किसी गड्ढे में गिरा है जो उसका उद्धार किया जावे, अथवा देश पर कोई ऋण है जिसका उद्धार किया जावे ? संवत् १९५६ मे सैकड़ों हजारों जीव अकाल के समय अन्न के बिना मर गये थे जब गेंहू का भाव आठ सेर का था, अब चार पाँच सेर का भाव होने पर भी लोग गुलछर्रे उड़ा रहे हैं, इससे सिद्ध होता है कि देश के पास समृद्धि पुष्कल है, फिर देश का उद्धार कैसा ? वे लोग जो विद्यालयों को दान देने की बात कहते

हैं सो विद्यालयों में तो पैसा लगाना हमारी समझ में बिल्कुल व्यर्थ है, देखो-जिनके भाग्य में विद्या लिखी ही नहीं है वे कहाँ से पढ़ सकते हैं तथा जिनके भाग्य में पढ़ना लिखा है वे विलायत तक जाकर पढ़ आते हैं, फिर विद्या पढ़ने से ही क्या लाभ है? सैकड़ों पण्डित विद्वान् और मास्टर धनवान् के द्वार पर आकर सेठजी और सेठ साहब कह कर उन्हें सम्बोधन करते हैं तथा सेठजी के नजर चढ़ा कर देखने और बात करने से अपने को कृतार्थ समझते हैं, ऐसी दशा मे विद्यालयों को दान देना व्यर्थ नहीं तो और क्या है? अब जो उनका दीन पालन का उपदेश है, वह तो दुरुपदेश मात्र है, भला सोचो तो सही कि जो कर्मानुसार दीन हीन हैं उनका पालन कैसा? क्या उनका पालन कर प्राकृतिक नियम का भङ्ग किया जावे? वे लोग जो चिर समय तक नाम रहने की बात कहते हैं वह तो बिल्कुल ही निर्मूल है, क्योंकि धनवानों को उनकी सलाह के अनुसार धन खर्च कर चिर समय तक नाम रखने की आवश्यकता नहीं है, उनको तो चिर समय तक यादगार के लिये उनका व्याह आदि के समय निर्मोही होकर थैलियों के मुह खोल देना ही पर्याप्त है, वे लोग सभ्य-समाज में गौरव होने की जो बात कहते हैं उस गौरव से द्रव्यपात्र क्या लाभ उठा सकते हैं? सम्भव है कि चन्द अखबार वाले अपने पत्रों के कालम रग डालें, सो उन पत्रों को पूछता ही कौन है? अखबार तो जहा तहा पैरों तले रूँदते फिरते हैं तथा नोन मिर्च बेचने वालों की दूकानों पर पुड़िया बाँधने के काम में आते हैं, उनकी कदर इसी व्यवहार से समझ लीजिये, वे लोग जो पुण्य-लाभ का उपदेश देते हैं, वह तो बालकों को फुसलाने के तुल्य हैं, पुण्य-लाभ तो धनिकों को स्वय ही हो रहा है जो वे यथेष्ट सम्पत्ति के अधिकारी और स्वामी हैं, इससे अधिक उ हें और पुण्य-लाभ क्या हो सकता है? अब रहा उनका स्वर्गीय-सुख-प्राप्ति का उपदेश, सो इस विषय में हम यह पूछते हैं कि-स्वर्ग को किसन देखा है? यदि किसी ने देखा हो तो वह हमें

बतलावे कि वह कैसा है ? वा स्वर्ग से हमारे पास पत्र भेजे तो हमें विश्वास हो कि स्वर्गीय सुख भी कोई वस्तु है और उसके मिलने का यह उपाय है, यदि हम उसे मान भी लें कि स्वर्गीय सुख भी कोई वस्तु है तो भी क्या यह कोई बुद्धिमत्ता का कार्य कहलावेगा कि उपलब्ध सुख को छोड़ भविष्यत् सुख की प्राप्ति के लिये धन खर्च कर उसकी आशा की जावे, ऐसा करना दुराशामात्र है, नीतिज्ञों का कथन है कि—"कल मिलने वाले एक की अपेक्षा आज का आधा ही अच्छा है" बस ऐसी दशा में उन लोगों के उचित व्यय के उपदेश को मानना सर्वथा अयोग्य है, यह भी विचार के योग्य बात है कि संसार में धन पाकर आप जैसे आनन्द प्रेमी धनिक जन उसके द्वारा यदि आनन्द को न लूटें तथा लोगों के द्वारा वाह वाह के भागी न बनें तो धन का प्रयोजन ही क्या है, सेठ साहब ! आप यह भी जान लें कि द्रव्यपात्रों का कोई काम अनुचित नहीं होता है, जो लोग उनके कामों को अनुचित बतलावे हैं वे अनभिज्ञ और मूर्ख हैं, क्योंकि नीतिशास्त्र के कथन के अनुसार यह मानना पड़ता है कि—जिसके पास धन है वही कुलीन है, जिसके पास धन है वही पण्डित वक्ता और दर्शनीय है, क्योंकि सब गुण काञ्चन का आश्रय लेते हैं, इसी विषय की घोषणा बाबा तुलसीदास जी भी कर गये हैं कि—"समरथ को नहिं दोष गुसाईं" भला सोचिये तो सही कि ऐसी दशा में उचित व्यय की शिक्षा को न मानने वाले आप जैसे उदार आनन्द-प्रेमी द्रव्यपात्र जनों पर क्या कोई कदापि आक्षेप कर सकता है" इत्यादि ।

विचारशील पाठक वर्ग ! धनिक जनों के समक्ष में स्वार्थी लोगों का उपर लिखित प्रकार का उपदेश होता है कि जिससे मुग्ध स्वभाव द्रव्यपात्र जन और भी अधिक प्रोत्साहित होकर बड़े उत्साह से अपने घरों में अपव्यय को स्थान देते हैं और परिणाम में दुःख के भागी बनते हैं; सत्य तो यह है कि ऐसे ही स्वार्थी और खुशामदी लोग दूसरों के सर्वनाश के कारण बनते हैं ।

उचित व्यय का वास्तव में ऐसा बहुमान है कि सृष्टि की आदि से लेकर अब तक सभ्यसमाज उसका अति गौरव करता चला आया है, यदि सभ्यसमाज उसका इस प्रकार गौरव न करता तो न जाने भारत की अब तक क्या दशा हुई होती, अस्तु, सहृदय जनों से शास्त्रीय सिद्धान्त का अनुसरण कर हमारा यह अनुरोध है कि आप लोग उचित व्यय के अनुगामी बन कर द्रव्यपात्रों के सामने अनुकरणीय बनें, कहने की अपेक्षा करके दिखलाना सहस्र गुण अधिक प्रभाव रखता है, यदि आप लोग इसका आचरण करेंगे तो द्रव्यपात्रों को भी एक दिन अवश्य आपका अनुसरण करना ही पड़ेगा, आपका कर्त्तव्य है कि प्रत्येक कार्य में व्यय करते समय उचित और अनुचित का अवश्य विचार करें तथा इस विषय में चार भङ्गों को अवश्य समझ लें जो कि इस प्रकार हैं—उचित कार्य में उचित व्यय करना, उचित कार्य में अनुचित व्यय करना, अनुचित कार्य में उचित व्यय करना तथा अनुचित कार्य में अनुचित व्यय करना, इनमें से—शक्ति के अनुसार सुपात्र-दानादि करने में प्रथम भङ्ग का समावेश होता है, पूर्वापर का तथा लौकिक परिणाम का विचार न कर दानादि में सर्वस्व का व्यय कर देना, यह दूसरे भङ्ग का विषय है, विवाहादि के समय में शास्त्रविरुद्ध बन्दोली आदि अनुचित कार्य में प्रेरणा वश लोगों के अनुरोध से उचित व्यय करना, यह तीसरे भङ्ग का विषय है तथा पूर्वोक्त ही कार्य में अविवेक वश शक्ति से अधिक द्रव्य का व्यय कर देना, यह चतुर्थ भङ्ग का विषय है, इनमें से प्रथम भङ्ग सर्वश्रेष्ठ तथा शेष तीनों भगों में से पिछले २ की अपेक्षा पूर्व २ श्रेष्ठ हैं, इस विषय को विचार कर प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य है कि अपने न्यायोपार्जित द्रव्य को उचित कार्य में उचित रीति से व्यय करे, उचित कार्य में भी अनुचित व्यय न करे तथा अनुचित कार्य में उचित व्यय व अनुचित व्यय, इन दोनों का त्याग करे, जो मनुष्य इस नियम का सर्वदा

पालन करता रहेगा वह यथासमय अपने सब ही कार्यों को उचित रीति से पूर्ण कर कल्याण का भागी होगा।

५—गार्हस्थ-धर्म।

चारों वर्णों तथा चारों आश्रमों का मूल गृहस्थ ही है और गृहस्थ से ही चारों वर्णों और चारों आश्रमों का प्रादुर्भाव होता है तथा उन की पुष्टि होती है, इसलिये गृहस्थ का सुधार होना अत्यावश्यक है।

योग्य अवस्था में परस्पर मे विवाहित स्त्री पुरुष गृहस्थ कहलाते हैं तथा उनका जो कर्तव्य है उसे गार्हस्थ धर्म कहते हैं।

इसके लिये सबसे पहिले तो यह आवश्यक बात है कि नियमित समय तक ब्रह्मचर्य के नियमो का पालन कर योग्य अवस्था में गुण कर्म और स्वभाव की अनुकूलता का विचार कर योग्य स्त्री पुरुषों का परस्पर में विवाह होना चाहिये, क्योंकि योग्य अवस्था होने पर भी परस्पर में गुण कर्म और स्वभाव के न मिलने से आपस में दाम्पत्य-प्रेम कदापि नहीं होसकता है और उसके न होने से दोनों के लिये यह आश्रम नीरस और किरकिरा हो जाता है, केवल इतना ही नहीं किन्तु कालान्तर में दम्पति- विरोध से बड़े २ अनर्थ पैदा हो जाते हैं।

गार्हस्थ धर्म के पालन के लिये दूसरा अत्यावश्यक साधन यह है कि स्त्री तन मन से पातिव्रत धर्म का पालन करे तथा पुरुष भी सर्वदा एक पत्नीव्रत होकर अपने कर्तव्य का पालन करे, खेद के साथ लिखना पड़ता है कि आज कल इस नियम में वहुत बाधा देखी जाती है, पूर्व-काल में प्राण-परित्याग करके भी स्त्रियाँ अपने पातिव्रत धर्म को नहीं छोड़ती थी, जिसके सहस्रों उदाहरण इतिहासों में विद्यमान हैं, पुरुष भी एक-पत्नीव्रत होकर परस्त्री गमन को महा अनर्थकारी पातक समझते थे परन्तु वर्त्तमान में बहुतेरे अविवेकी स्त्री पुरुषों को इस साधन का कुछ भी महत्त्व ज्ञात नही है, इसीलिये वे इस व्रत का भङ्ग कर अपने लिये अनर्थ का बीज़ बोते हैं।

गृहस्थ में स्त्री और पुरुष दोनों को शिक्षित विद्वान् तथा विवेकी होना चाहिये, नहीं तो गृहस्थ का वास्तविक सुख दोनों को नहीं मिल सकता है, वर्त्तमान में गृहस्थ पुरुषों में से ही बहुत कम लोग पढ़े लिखे और शिक्षित देखे जाते हैं तो फिर स्त्रियों का तो कहना ही क्या है, पूर्वकाल में सैकड़ों स्त्रियाँ ऐसी होगई हैं कि जिन्होंने शास्त्रार्थ में बड़े २ विद्वानों को भी परास्त किया था, वर्त्तमान में शास्त्रार्थ की बात तो दूर गई स्त्रियों के लिये काला अक्षर भैंस बराबर हो रहा है।

गृहस्थ रूपी रथ के चलाने के लिये स्त्री और पुरुष, दोनों पहियों के समान हैं, रथ का एक पहिया भी खराब होने से जैसे रथ नहीं चल सकता है उसी प्रकार स्त्री और पुरुष दोनों में से एक के भी निकम्मे होने से गृहस्थ धर्म का निर्वाह नहीं हो सकता है, केवल इतना ही नहीं किन्तु ऐसा होने से बड़ा कष्ट उठाना पड़ता है, विद्या का उपार्जन न करने से तथा सत्सङ्ग के न मिलने से वर्त्तमान में स्त्रियों में मूर्खता और अविवेकता बहुधा देखी जाती है, इससे गृहवास में पठित पुरुषों को भी कष्ट उठाना पड़ता है, सत्य है—"पति पण्डित और मूर्खा-नारी, कहु कौन विपत इससे भारी" परन्तु खेद का विषय तो यह है कि ऐसा होने पर भी स्त्रीशिक्षा का कोई समुचित प्रबन्ध नहीं किया जाता है।

गृहस्थाश्रम में निवास करने वाली स्त्री का यह कर्त्तव्य है कि सर्वदा पति की इच्छा के अनुकूल वर्त्ताव करे, यदि पति कोई अनुचित कार्य करने में तत्पर हो तो उसे एकान्त में मिठना कर शान्तिपूर्वक मधुर वचनों के द्वारा उस अनुचित कार्य के दोषों को प्रकट कर समझा दे, किन्तु पति पर कभी क्रोध न करे और न कभी उसके साथ कटु वाक्यों का प्रयोग करे, क्योंकि स्त्री के लिये संसार में पति ही देव है, उस स्त्री को अधम समझना चाहिये कि जो पति देव की यथोचित सेवा न करती हो, कैसी ही विपत्ति क्यों न उपस्थित हो स्त्री को पति का साथ कभी नहीं छोड़ना चाहिये, आपत्तिकाल में ही धीरज, धर्म मित्र और

स्त्री की परीक्षा होती है, पति चाहे रोगी, मूर्ख, दरिद्र, अन्धा, बहिरा, क्रोधी, लंगड़ा और लूला आदि भी क्यों न हो तो भी स्त्री को विनयपूर्वक उसकी सेवा करनी चाहिये, क्योंकि ऐसे भी पति का अपमान करने से स्त्री को नरक दुःख की प्राप्ति होती है, स्त्री के लिये सर्वोत्तम व्रत नियम और धर्म यही है कि वह मन वचन और शरीर से पति की सेवा करे, जो स्त्री अपने पति से विमुख होकर पर पुरुष में अनुरागिणी होती है उसको घोर नरक में तीव्र यातना सहनी पड़ती है, जो स्त्री पति सेवा न कर उसका तिरस्कार करती है वह इस दुष्कार्य से जन्मान्तर में वैधव्य-यातना का सहन करती है, इसलिये स्त्री को उचित है कि सर्वदा पति-सेवा में निमग्न रहे, पति-सेवा का महत्त्व शास्त्रों में अच्छे प्रकार से वर्णित है, विस्तार के भय से यहां पर उसका उल्लेख नहीं किया जाता है।

पुरुष का भी यह कर्त्तव्य है कि वह अपनी स्त्री को सर्वदा अर्धाङ्गिनी जान कभी उसका अपमान न करे, शक्ति के अनुसार भोजन, वस्त्र और आभूषण आदि का प्रदान कर उसे सन्तुष्ट रक्खे, जहां स्त्रियों का बहुमान होता है वहां सम्पतियाँ रमण करती हैं अर्थात् सब प्रकार के सुख उपलब्ध होते हैं और जहां इनका तिरस्कार किया जाता है वहां लक्ष्मी का नाश होता है, उदासी आ जाती है और उसके पीछे धीरे २ सब विपत्तियां आ घेरती हैं, बहुत से लोग स्त्री की कदर को कुछ भी नहीं समझते हैं, उसे पैर की जूती के समान भी नहीं गिनते हैं, अथवा उसे आटा पीसने की, रसोई बनाने की, चौका वर्त्तन करने की, झाड़ू बुहारी देने की तथा घर का अन्य काम काज करने की एक मोल ली हुई मैशीन के समान समझते हैं, यह उनकी मूर्खता है, क्योंकि स्त्री पुरुष की अर्धाङ्गिनी है, आधे ऐश्वर्य की स्वामिनी है, प्रत्येक कार्य में सम्मति देने की अधिकारिणी है तथा सुख दुःख में साथ देने वाली है, कहां तक कहें गृहवास में पुरुष के लिये स्त्री ही सर्वस्व है,

स्त्री के विना गृहस्थ का घर जङ्गल के समान माना गया है, इसलिये पुरुष को सर्वदा स्त्री का आदर और गौरव करना चाहिये।

पुरुष का कर्त्तव्य है कि न्याय से द्रव्य का उपार्जन कर स्त्री को सौंपे और स्त्री का कर्त्तव्य है कि उसे उचित और अनुचित का विचार कर प्रत्येक कार्य में व्यय करे, स्त्री को भूल कर भी प्रत्येक कार्य में मुक्तहस्ता नहीं होना चाहिये, ऐसा होने से अपव्यय बढ़ कर परिणाम दुःखकारक होता है, तात्पर्य यह है कि न्यायोपार्जित द्रव्य को स्त्री पुरुष को उचित रीति का अनुसरण कर लौकिक तथा पारलौकिक कार्यों में लगाना चाहिये तथा अपनी वृद्धावस्था आदि के लिये कुछ संग्रह करके भी रखना चाहिये, क्योंकि सब दिन मनुष्य के एकसे नहीं जाते हैं, न मालूम कब और कैसी आवश्यकता उपस्थित हो जावे, अनुचित कार्य में व्यय होने से अथवा उचित कार्य में भी अनुचित व्यय होने से समयानुसार उपस्थित आवश्यक कार्यों में व्यय करने में बाधा पड़ती है, अथवा संकीर्णता उपस्थित होती है।

सांसारिक कार्यों के अतिरिक्त नीति शास्त्र में गृहस्थ के मुख्य तीन कर्त्तव्य पारमार्थिक विषय के साधन के लिये बतलाये गये हैं, तद्यथा —

अद्रोहः सर्व भूतेषु, कर्मणा मनसा गिरा।
शमो दान यथाशक्ति, गार्हस्थो धर्म उच्यते ॥१॥

अर्थात्—मन वचन और कर्म से सब प्राणियों पर द्रोह न करना, शान्ति को रखना तथा यथाशक्ति दान करना, यह गृहस्थ का धर्म कहा गया है ॥१॥

इनमें से प्रथम कर्त्तव्य का विवेचन प्रथम परिच्छेद के चौथे पाठ में विस्तारपूर्वक कर दिया गया है।

शान्ति को रखने के लिये गृहस्थ को उचित है कि—शास्त्र के अवलोकन से, शास्त्रोपदेश-श्रवण से, सत्सङ्ग से, काम, क्रोध और

लोभादि के परित्याग से तथा नित्यकर्म के अनुष्ठान से मन और इन्द्रियों का निग्रह कर शान्ति को धारण करे, प्रत्येक गृहस्थ को उचित है कि प्रतिदिन थोड़ा वहुत समय निकाल कर शास्त्रावलोकन अवश्य करे, यदि स्वयं उसके अवलोकन की शक्ति न हो तो गुरु-मुख से उस का श्रवण करे, कुसंग का परित्याग कर सर्वदा सत्संग करता रहे, काम, क्रोध और लोभ आदि कषायों का विजय करे, क्योंकि क्रोधादि कषाय संसार-बन्ध के कारण हैं, सन्ध्या आदि नित्यकर्म का अनुष्ठान नियम-पूर्वक करे, ऐसा करने से शनैः शनैः मन और इन्द्रियों का निग्रह होने से शान्ति की प्राप्ति होती है, श्रीजैन धर्मानुयायी गृहस्थ पुरुष वा स्त्री को श्रावक तथा श्राविका कहते हैं, उनको उचित है कि प्रतिदिन दोनों समय विधिपूर्वक सामायिक के सहित प्रतिक्रमण का अनुष्ठान करें, जिसकी विधि आगे चौथे परिच्छेद में लिखी जावेगी, इसके अतिरिक्त उन्हें श्रावक के १२ व्रतों का नियमपूर्वक पालन करना चाहिये, जिन्हें प्रायः सब ही श्रावक भली भाँति जानते हैं।

(प्रश्न) श्रावक शब्द का क्या अर्थ है ?

(उत्तर) जो लोग सम्यक्त्व को स्वीकार कर अणुव्रतों को प्राप्त होकर भी उत्तरोत्तर विशिष्ट गुणों की प्राप्ति के लिये साधुओं की तथा गृहस्थों की सामाचारी को साधु साध्वियों से प्रतिदिन सुनते हैं उनको श्रावक कहते हैं, जैसा कि शास्त्र में कहा है कि :—

संपत्तदंसणाई पयदियहं जइ जणा सुणेइय।
सामायादिं पदमं जो खलु तं सावगं विंति ॥१॥

अर्थात्—दर्शनादि को प्राप्त होकर जो प्रतिदिन उत्तम रीति से यतिजनों से सामाचारी को सुनता है उसको श्रावक कहते हैं ॥१॥

इन श्रावकों के लिये विशेष कर्त्तव्य-विधि ग्रन्थान्तरों में वर्णित है, उसको जान कर यथायोग्य उसका सेवन करना चाहिये।

गृहस्थ का तीसरा कर्त्तव्य यथाशक्ति दान कहा गया है, इस कर्त्तव्य का मुख्य तात्पर्य यही है कि गृहस्थ को अपने तन मन और धन से दूसरों को सहायता पहुँचाते रहना चाहिये ।

गृहस्थ का यह भी परम कर्त्तव्य है कि वह अपने सन्तान को समुचित शिक्षा प्रदान कर और कराके उसे विद्वान् और शिक्षा सम्पन्न बनाने कि जिससे वह अपने कर्त्तव्य को समझ कर उसका पालन कर अपने जन्म को सफल करे, माता पिता के यश को विस्तृत करे तथा कुल को उज्ज्वल करे, नीति शास्त्र में कहा है कि—"वे माता-पिता शत्रु हैं जो बालक को नहीं पढ़ाते हैं, अपठित बालक विद्वानों की सभा में ऐसा लगता है जैसा कि हंसों में बगुला" देखो ! जो सन्तान शिक्षित और विद्वान् नहीं होता है वह अपने कर्त्तव्य से अनभिज्ञ होने के कारण माता-पिता आदि को जन्म पर्यन्त दुःख देता रहता है, गृहस्थ के यहा शिक्षित सन्तान रत्न से भी अधिक होता है, क्योंकि कितना ही बढ़िया रत्न हो उसका निर्धारित मूल्य हो सकता है, परन्तु शिक्षित सन्तान अमूल्य रत्न होता है, यह एक ऐसा रत्न है कि रत्न स्वामी को ही नहीं किन्तु कुल, ग्राम, नगर, जाति और देश को भी लाभ पहुँचाता है ।

गृहस्थ-धर्म-पालन के विभिन्न नियम ग्रन्थान्तरों में लिखे हैं, विस्तार के भय से यहा पर उनका उल्लेख नहीं किया जाता है, यहा पर यह अति संक्षेप से गृहस्थ धर्म के विषय में लिखा गया है, आशा है कि सहृदय पाठक संकेत मात्र से ही गार्हस्थ धर्म को समझ कर तथा उस का पालन कर लाभ उठावेंगे ।

इति द्वितीय परिच्छेद ।

⟿ तृतीय परिच्छेद ⟾

१—सांसारिक-परिस्थिति

समें प्रत्येक पदार्थ एक दशा व एक परिणाम को छोड़ कर दूसरी दशा वा दूसरे परिणाम को निरन्तर प्राप्त होता जा रहा है उसे संसार कहते हैं, अथवा सामान्यतया यह जानना चाहिये कि जिसमें प्रत्येक प्राणी कर्मवश होकर निरन्तर गमानगमन[१] कर रहा है अर्थात् जन्म और मरण को प्राप्त हो रहा है; उसका नाम संसार है। ऐसी दशा में बुद्धिमान् जन विचार कर सकता है कि सांसारिक[२] परिस्थिति[३] कैसी है, अर्थात् संसार के पदार्थों की दशा किस प्रकार परिणित होती रहती है, इसी अवस्था को विचार कर महात्माजनों ने इस संसार को तथा तद्वर्त्ती[४] पदार्थों को निःसार, निस्तत्त्व तथा क्षणभङ्गुर जानकर उनमें अभिष्वङ्ग[५] न कर तथा उनका परित्याग कर आत्मकल्याण के लिये उद्यम किया है, पर्वोक्त महात्माजनों के उपदेश और चरित्र की ओर अपना लक्ष्य ले जाकर प्रत्येक मनुष्य को यह सोचना चाहिये कि मैं इस संसार में क्यों उत्पन्न हुआ हूँ, संसार में मेरी स्थिति कब तक है तथा मेरा कर्त्तव्य क्या है, जो मनुष्य इस बात को नहीं सोचता है वह धोखा खाता है अर्थात् अपने कर्त्तव्य के मार्ग से परिभ्रष्ट होकर आत्मकल्याण को न पाकर अपने अमूल्य जीवन को व्यर्थ में गँवाता है, एक महात्मा ने इस विषय में क्या ही अच्छा कहा है कि—

---

१ जाना आना। २ संसार की। ३ दशा अवस्था। ४ संसार में स्थित। ५ आसक्ति, तत्परता।

महता पुण्य मूल्येन, क्रीते य कायनौस्त्वया ।
पारं दु खोदधेर्गन्तुं, तर यावन्नभिद्यते ॥ १ ॥

अर्थात् हे मनुष्य ! तूने ससार रूप दु खसागर से पार जाने के लिये पुण्यरूपी बड़े मूल्य से इस शरीररूपी नौका को खरीदा है, इसलिये तुझे उचित है कि जब तक यह नौका टूट न जावे तब तक शीघ्रता के साथ उस दु खसागर के पार हो जा ॥१॥

आहा ! क्या ही अच्छा उपदेश है, इस उपदेश का प्रत्येक अक्षर अनमोल है, सत्य है यह मनुष्यजन्म अर्थात् नरदेह बड़े ही पुण्य से प्राप्त होता है, इसकी बहुमूल्यता को जान कर इसे कदापि व्यर्थ में नहीं गमाना चाहिये, भर्तृहरिजी ने भी कहा है कि "जो मनुष्य मानवशरीर को पाकर आत्मकल्याण के लिये अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं करता है वह उस मूर्ख के समान है कि जो वैडूर्यमणि की बटलोई में नीचे चन्दन को जला कर लहसन को पकाता हो अथवा वह उस मूर्ख के समान है कि जो कोदों के खेत में उसकी रक्षा के लिये च दन की बाड लगाता हो"। मानव शरीर को प्राप्त कर मनुष्य को प्रति समय इस बात को सोचना चाहिये कि यह मानवशरीर जो मुझे प्राप्त हुआ है यह क्षणभङ्गुर है, परन्तु यदि इस के द्वारा में सद्गुणों का उपार्जन कर लूँगा तो वे सद्गुण कल्पपर्यन्त रहेंगे अर्थात् उनकी कीर्ति कल्पान्तस्थायिनी[1] होगी, उसे यह भी सोचना चाहिये कि यह शरीर मलवाही[2] और अनित्य अर्थात् क्षणभङ्गुर है, इसके द्वारा यदि मैं सर्वदा स्थायी[3] निर्मल यश को प्राप्त कर लू तो मानो मैंने सब कुछ पा लिया। सत्य तो यह है कि मनुष्य को मननशक्ति प्राप्त हुई है वह इसीलिये है कि मनुष्य सदसत्[4], हिताहित तथा कर्त्तव्याकर्त्तव्य का विचार कर सत्, हित और

१—कल्पपर्यन्त ठहरने वाला। २—मल से भरा हुआ। ३—हमेशा रहने वाला। ४—भले बुरे।

कर्त्तव्य का ग्रहण करे तथा असत्, अहित और अकर्त्तव्य का परित्याग करे, परन्तु खेद है कि मनुष्य प्रमादरूपी मद्य को पीकर ऐसा मदोन्मत्त हो जाता है कि उसकी यथार्थ ज्ञानशक्ति-अकिञ्चित्कर[1] होजाती है, अज्ञानान्धकार से आवृत्त[2] अन्तःकरण के द्वारा उसे यह नहीं सूझता है कि यह संसार एकमात्र दुःख का घर है, संसारवर्त्ती सर्वजीव आधि-व्याधि और उपाधि से संतप्त हो रहे हैं; राजा से लेकर रङ्क तक इसमें कोई भी सुखी नहीं है, इसमें स्वप्नमात्र भी सुख नहीं है, संसार के जो सुख प्रतीत होते हैं वे वास्तव में सुख नहीं हैं किन्तु सुखाभास हैं, वे ऐसे हैं कि जैसे मृगतृष्णा में जलभ्रान्ति होती है, यह समस्त सांसारिक विभूति स्वप्नवत् है अर्थात् घर, महल, बाग, बगीचा, भूमि, जेवर, द्रव्य, वाहन[3] और स्त्री पुत्रादि समस्त परिवार, इन सब का सम्बन्ध तभी तक है जब तक कि नेत्र बन्द नहीं होते हैं अर्थात् नेत्रों के बन्द होने पर मनुष्य का इनके साथ कोई सम्बन्ध नहीं रहता है, यदि सम्बन्ध रहता है तो केवल पाप और पुण्य से रहता है, अर्थात मृत्यु के पश्चात् पाप और पुण्य ही साथ में रह कर उसे दुर्गति वा सुगति में ले जाता है।

खेद का विषय है कि सांसारिक सुखाभासों को मनुष्य सुखरूप समझ कर उनमें ऐसा अनुरक्त[4] और निमग्न हो जाता है कि वह अपने को अजर और अमर के समान मानकर उनके साथ अपना सार्वकालिक[5] सम्बन्ध समझता है, आश्चर्य की बात तो यह है कि वह यद्यपि इस बात को जानता है कि मेरे पुरुषाजन इस संसार की विभूति को छोड़ कर चले गये वह आंखों से प्रत्यक्ष देखता है कि सैकड़ों प्रतिदिन जा रहे हैं तथा मुझे भी एक दिन अवश्य ही यहां से जाना है तो भी वह ऐसा प्रमादी रहता है कि जिसका कुछ ठिकाना ही नहीं है, बस ऐसे प्रमादी मनुष्य को यथार्थ सुख की प्राप्ति कदापि नहीं होती है।

१—निकम्मी। २—ढकेहुए। ३—सवारी। ४—प्रेमी, अनुरागी। ५—हमेशा रहने वाला।

बहुत से लोग सासारिक सुखाभासों का भोग करते समय अपने को ऐसा सुखी समझते हैं कि वे अपनी दृष्टि में इन्द्र को भी कोई चीज नहीं समझते हैं, उनसे यह प्रश्न किया जा सकता है कि तुम किस बात से सुखी हो ? यदि उत्तमोत्तम पदार्थों के खाने एव भोग विलासादि के द्वारा तुम अपने को सुखी मानते हो तो तिर्यग् जाति जीव भी इस विषय में तुम्हारी समता[1] कर सकते हैं, फिर देखो ! भूख लगने पर उससे उत्पन्न पीड़ा को दूर करने के लिये जो तुम उत्तमोत्तम पदार्थों को खाकर उस पीडा को दूर करते हो अथवा काम पीडा आदि के उत्पन्न होने पर उनको दूर करने के लिये भोगविलासादि का सेवन करते हो तो यह तो तुम पूर्वोक्त पीड़ाओं की निवृत्ति का उपाय मात्र करते हो, हमने माना कि इन उपायों से तुम्हारी पूर्वोक्त पीड़ायें दूर हो जाती हैं अर्थात् तुम्हारी पीड़ाओं की निवृत्ति हो जाती है परन्तु तुम यह तो बताओ कि तुम्हें अपूर्व सुख कौनसा हुआ ? यदि पीड़ा निवृत्ति को ही तुम सुख मानते हो तो प्रत्येक सुख की प्राप्ति के लिये पहिले तुम्हें पीड़ाओं को खरीदना पडेगा कि जिससे उनकी निवृत्ति के द्वारा तुम्हें सुख मिले, देखो ! कुए में से निकलने पर उससे उत्पन्न सुख उसी को हो सकता है कि जो पहले कुए में गिरे, कारागार[2] से छूटने पर जो सुख होता है वह उसी को मिल सकता है कि जो पहले कारागार में बन्धन को प्राप्त हो, इसी प्रकार से और विषयों में भी जानना चाहिये, इसलिये पीड़ा निवृत्ति से उत्पन्न होने वाले सुखाभास को सुख मानना ठीक नहीं है, यदि तुम द्रव्यादि के द्वारा अपने को सुखी मानते हो तो प्रथम तो तुम यह बतलाओ कि उस द्रव्यादि से तुम्हारी इच्छा की पूर्ति हो गई है या नहीं ? यदि इच्छा की पूर्ति नहीं हुई है तो तृष्णा की विद्यमान दशा में सन्तोष सुख कहा से हो सकता है ? और यदि इच्छा की पूर्ति हो

१—बराबरी। २—जेलखाना।

गई है तो फिर रातदिन तुम उसके उपार्जन[1] आदि की चिन्ता में क्यों निमग्न रहते हो ? इसके अतिरिक्त शास्त्रकारों का यह मन्तव्य है कि द्रव्यादि से कभी किसी को सुख हो ही नहीं सकता है, क्योंकि उसके अर्जन[2] में दुःख है, रक्षण[3] में दुःख है तथा नाश में दुःख है, यदि थोड़ी देर के लिये यह मान भी लिया जावे कि द्रव्यादि से तुम सुखी हो तो भी यही कहना पड़ेगा कि शारीरिक व मानसिक उपस्थित हुई पीड़ाओं की निवृत्तिमात्र उस द्रव्यादि से होती है और वह पूर्व लिखे अनुसार सुखाभास है, उस सुखाभास की प्राप्ति से तुम्हे सुखी कैसे कहा जा सकता है ? भला सोचो तो सही कि यदि द्रव्यादि पदार्थों और सांसारिक विषय भोगों में सुख होता तो पूर्वज महानुभाव उनका परित्याग कर अरण्य[4] वास क्यों करते ? किञ्च-भर्तृहरिजी के "भोगे रोग भयम्" इस वाक्य के अनुसार विषय भोगो से परिणाम में वह दुःख उपस्थित होता है कि जो यावज्जीवन[5] मनुष्य का पीछा नहीं छोड़ता है।

(प्रश्न) सुख दो प्रकार का माना जाता है लौकिक तथा पारलौकिक, लौकिक सुख मनुष्य को भोगादि के द्वारा प्राप्त होसकता है, परन्तु आप उसे सुखाभास बतलाते हैं, तो फिर सुख के पूर्वोक्त दो भेद कैसे हो सकते हैं ?

(उत्तर) लौकिक सुख केवल व्यवहार की अपेक्षा से माना जाता है, किन्तु परमार्थतया[6] नहीं माना जाता है, व्यवहार की अपेक्षा से आवश्यकता पूर्ति का नाम सुख है, संसार मे विषयों से मनुष्य की आवश्यकता की पूर्ति होती है, इसलिये भिन्न २ व्यवहार की अपेक्षा से उसी को लोग लौकिक सुख मानते हैं।

(प्रश्न) तो पारमार्थिक सुख कौनसा है ?

१—कमाने। २—कमाने। ३—रक्षा करने में। ४—जंगल में निवास। ५—जीवन पर्यन्त। ६ वास्तव में।

(उत्तर) पारमार्थिक सुख मोक्ष सुख ही है जो कि जन्म[1], जरा[2], मरण, रोग और शोक आदि सर्व उपद्रवों से रहित, आत्यन्तिक[3], ऐकान्तिक[4] परमानन्द रूप है।

(प्रश्न) मोक्ष सुख पूर्वोक्त प्रकार का क्यों है ?

(उत्तर) इसका कारण यह है कि मोक्ष संसार का प्रतिपक्ष[5] भूत है, संसार में जन्म मरणादि दु ख के कारण रागादि होते हैं तथा उन (रागादि) का मोक्षावस्था में निर्मूल नाश हो जाता है, इसलिये मोक्ष में दु ख का लेशमात्र भी नहीं होता है तथा निर्मूल नाश को प्राप्त हुए रागादि फिर उत्पन्न नहीं होते हैं, इसलिय मोक्ष सुख शाश्वतिक[6] कहा जाता है।

(प्रश्न) यदि मोक्षावस्था में रागादि नहीं होते हैं तो रागी पुरुष को जो विषय भोग सुख होता है, द्वेष युक्त पुरुष को जो प्रबल वैरी के तिरस्कार से सुख होता है तथा मोह युक्त पुरुष को अपने विनीत[7] पुत्र और स्त्री आदि बन्धु वर्ग में सहवास[8] से जो सुख होता है वह सुख मोक्ष में कैसे मिल सकता है ? किञ्च यह भी सुना है कि मोक्षावस्था में क्षुधा आदि भी सर्वथा नहीं रहते हैं, तो फिर भूख से अत्यन्त पीड़ित पुरुष को उत्तम भोजन के मिलने से जो सुख होता है तथा ग्रीष्म आदि ऋतु में प्यास से पीडित मनुष्य को केवड़े आदि से सुवासित, सुगन्धि युक्त, मधुर और शीतल जल के पीने से जो सुख होता है वह सुख भी मोक्षावस्था में प्राणी को उपलब्ध[9] नहीं होता है, तो फिर ऐसे मोक्ष सुख से क्या प्रयोजन है ?

(उत्तर) तुम्हारा यह कथन अत्यन्त ही अनभिज्ञता[10] का सूचक है, देखो ! यद्यपि रागादि पहिले तो क्षणमात्र के लिये सुखदायक होने से सुन्दर प्रतीत होते हैं तथापि वे परिणाम परम्परा के द्वारा अनन्त

---

१ उत्पत्ति । २ बुढ़ापा । ३ सर्वदा स्थायी । ४ सर्वथा सुखरूप । ५ विरोधी रूप । ६ निरन्तर रहने वाला ७ नम्र । ८ साथ में रहना । ९ प्राप्त । १० मूर्खता अनजानपन ।

दुःसह[1] नरकादि दुःख में गिरने के कारण होते हैं इसलिये अन्त में दारुण[2] होने के कारण विष से मिले हुए भोजन से उत्पन्न सुख के समान रागादि से उत्पन्न सुख का बुद्धिमान लोग ग्रहण नहीं करते हैं, क्योंकि बुद्धिमान लोग तो बहुत दुःख वाले कार्य को छोड़ कर बहुत सुख वाले कार्य का ग्रहण करते हैं, हाँ जो पुरुष थोड़े सुख के लिये बहुत दुःख वाले कार्य को करता है उसे बुद्धिमान नहीं किन्तु कुबुद्धि जानना चाहिये, देखो! रागादि से उत्पन्न सुख भी पूर्वोक्त रीति से बहुत दुःख का कारण होता है, हाँ मोक्ष का सुख तो ऐकान्तिक तथा आत्यन्तिक परमानन्द रूप है, इसलिये तत्त्ववेत्ता[3] पुरुष उसी का ग्रहण करते हैं, किन्तु रागादि से उत्पन्न होने वाले सुख का ग्रहण नहीं करते हैं। बस पूर्वोक्त कथन से यह बात सिद्ध होगई कि सांसारिक सुख वास्तव में सुखाभास हैं, उनमें मनुष्य को कदापि लिप्सु[4] नहीं होना चाहिये, तथा सांसारिक पदार्थों को क्षणभङ्गुर जान उनमें आसक्ति[5] नहीं करनी चाहिये, संसारवर्त्ती मनुष्य को इस बात का सर्वदा ध्यान रखना चाहिये कि इस संसार में धन पैर की धूलि के समान है, युवावस्था पहाड़ से गिरने वाली नदी के वेग के समान है, जीवन काल जल के बिन्दु के समान चपल है तथा जीवित फेन के समान है, बस इस बात को विचार कर अपने कर्त्तव्य का पालन करने में तत्पर रहना चाहिये, बहुत से लोग प्रायः इस बात को विचारा करते हैं कि अभी क्या है, अभी तो हमारी अल्पावस्था है, अपनी युवावस्था में सुख का तो भोग कर लें पीछे वृद्धावस्था आने पर आत्मा के कल्याण का कार्य धर्म सेवन, भजन, तप और ध्यान आदि कर लेंगे। वाहवाह! यह कैसा मूर्खता का विचार है, क्या उन्होंने वृद्धावस्था के आने का पट्टा प्रकृति से खरीद लिया है? कौन जानता है कि उनकी वृद्धावस्था आवेगी या नहीं—और वृद्धावस्था आने पर भी वे उस समय में

---

१ कठिन। २ भयंकर। ३ तत्त्वज्ञानी। ४ अभिलाषी। ५ तत्परता, अनुराग।

आत्मकल्याण का कार्य कर सकेंगे या नहीं कर सकेंगे ? इसलिये पूर्वोक्त विचार को छोड़ कर अपने जीवन काल में मनुष्य को आत्म कल्याण-कारी कार्य में तत्पर रहना चाहिये, देखो एक महात्मा का कथन है कि—"जब तक वृद्धावस्था दूर है तथा जब तक इन्द्रियों की शक्ति विद्यमान है तभी तक समझदार मनुष्य को आत्म-कल्याण के लिये प्रयत्न कर लेना चाहिये, क्योंकि घर में आग लग जाने पर कुआँ खोदने का उद्यम व्यर्थ होता है" त्रिकालदर्शी महात्माओं ने भी कहा है कि—"मनुष्य को कल का काम आज ही कर लेना चाहिये—तथा अपराह्न[1] का कार्य पूर्वाह्न[2] में ही कर लेना चाहिये, क्योंकि मृत्यु मनुष्य के किये हुए और न किये कार्य की प्रतीक्षा नहीं करती है।" बस इन वाक्यों को सदैव ध्यान मे रख कर मनुष्य को अहर्निश[3] आत्मा के कल्याण के लिये प्रयत्न करते ही रहना चाहिये।

२—धर्म-महत्त्व

आहा! "धर्म" ये दो अक्षर कैसे प्रिय, मनोहर और चित्ता-कर्षक[4] हैं कि उनके विषय में कुछ लिखना लेखनी की शक्ति के बाहर और कहना वाणी का अविषय है, इसका कारण यही प्रतीत होता है कि वह आत्मा का एक मुख्य गुण है, अपना आत्मा सब ही को परम प्रिय होता ही है तो उसके गुण धर्म में यदि चित्ताकर्षक शक्ति हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? इन्हीं दो अक्षरों की महिमा को दिखलाने के लिये भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी ने गीता में कहा है कि—"यतोधर्म-स्ततो जय " अर्थात् जहा धर्म है वहीं विजय है। सत्य ही है कि जहा आत्मा का कल्याण करने वाला धर्म है वहा पराजय का क्या काम है ? बालक से लेकर वृद्ध तक, ग्रामीण[5] से लेकर विद्वान् तक तथा गोपाङ्गना[6] से लेकर राजमहिला तक सबके हृदय में इसकी लिपि इस

१—तीसरे पहर। २—पहिला पहर। ३—दिन रात। ४—चित्त को आकर्षित करने वाले। ५—गँवार। ६—ग्वालिन।

प्रकार अङ्कित है कि इसका नाम सुन कर सब ही प्रफुल्ल-हृदय हो जाते हैं, हृदय पटल पर इसी की लिपि के अङ्कित होने से क्रूरात्मा[१] पापी भी दुराचरण के समय उसके आतङ्क[२] से भयभीत होता है, कारण यह है कि हृदय पटल पर इन दो अक्षरों की लिपि दर्पण का काम करती है जैसे दर्पण में भली वा बुरी आकृति तत्काल दीख जाती है उसी प्रकार प्रत्येक कार्य को करते समय उसके परिणाम की आकृति इस दर्पण में दीख जाती है, इसी सिद्धान्त को लेकर महात्मा जनों ने "स्वस्य च प्रियमात्मनः" इस वाक्य का कथन कर आत्मा के प्रिय कार्य को धर्म का लक्षण बतलाया है, अब यह दूसरी बात है कि उत्कृष्ट वा निकृष्ट अपने संस्कारवश मनुष्य पूर्वोक्त दर्पण में प्रतिबिम्बित परिणाम का आदर करे वा न करे।

सृष्टि की आदि से लेकर इसका महत्त्व अब तक एक समान चला आ रहा है—तथा ऐसा ही कल्पान्त तक चला जावेगा, कारण यह है कि वह शाश्वत और नित्य है।

इसकी विभूति को जो मनुष्य अपने हृदय में धारण कर लेता है वह देवों का भी वन्दनीय[३] और पूज्य हो जाता है अर्थात् देव भी उस पर कृपा कर उसके सन्मनोरथों की सिद्धि कर उसका कल्याण करते हैं,[४] उस मनुष्य को अभ्युदय तथा निःश्रेयस की प्राप्ति अवश्य ही होती है,[५] इसका कारण यह है कि "धर्म" इन दो अक्षरों का स्वभाव ही ऐसा है कि ये दुर्गति में जाते हुए जन्तुओं को रोक लेते हैं अर्थात् दुर्गति में नहीं जाने देते हैं तथा शुभ स्थान में उनको ले जा कर रखते[६] हैं! इसका प्रभाव प्रत्यक्ष में ही दीख पड़ता है कि मानव जन्म,

---

१—क्रूरआत्मा वाला। २—भय, प्रभाव। ३—नमस्कार करने योग्य। ४—देवावितं नमंसंति जस्स धम्मे सयामणो ॥१॥ (दशवैकालिक सूत्र)। ५—यतोऽभ्युदयनिश्रेयससिद्धिः सधर्मः। (न्यायसूत्र)। ६—दुर्गतौ प्रसृतान् जन्तून्, यस्माद्धारयते ततः। धत्ते चैतान् शुभे स्थान तस्माद्धर्म इतीरित ॥१॥ (श्रीनन्दी सूत्र मलय गिरिवृत्ति)।

ऐश्वर्य, शरीरस्वास्थ्य, मन स्थैर्य, आधिव्याधि का विरह तथा प्रियवर्ग, इन सब की प्राप्ति का कारण एकमात्र धर्म है तथा भव त्याग के पश्चात् नि श्रेयस[1] सुख की प्राप्ति का कारण भी धर्म ही है, जिन्होंने पूर्व भवों में इसकी आराधना नहीं की वे ससार में कैसे दरिद्र, दुखी, रोगी, विकलेन्द्रिय तथा घृणास्पद[2] दीख पड़ते हैं।

इसी अमित महिमा विशिष्ट[3] धर्म के सेवन के लिये मानव धर्मशास्त्र प्रणेता मनुजी ने कहा है कि —

> एक एव सुहृद्धर्मो, निधनेऽप्यनुयाति यः।
> शरीरेण सम नाश, सर्वमन्यत्तुगच्छति ॥१॥
> न ततो हि सहायार्थे, माता भार्या च तिष्ठति।
> न पुत्र मित्रे न ज्ञाति, र्धर्मस्तिष्ठति केवलः ॥२॥

अर्थात्—इस ससार में मनुष्य का एक धर्म ही मित्र है, जो कि मृत्यु होने पर भी साथ में जाता है और सब सासारिक पदार्थ तो शरीर के ही साथ में नाश को प्राप्त होते हैं। परभव में सहायता देने के लिये माता और भार्या साथ मे नहीं रहती हैं, पुत्र, मित्र तथा जाति के लोग भी साथ में नहीं रहते हैं, किन्तु केवल एक धर्म ही साथ में रहता है। नीति शास्त्रज्ञों का कथन है कि—

> बलवानप्यशक्तोऽसौ, धनवानपि निर्धनः।
> श्रुतवानपि मूर्खश्च, यो धर्म विमुखोजनः ॥१॥
> इहैव नरकव्याधेश्चिकित्सां न करोतियः।
> गत्वा निरौषधस्थान, सरोगी किं करिष्यति ॥२॥

अर्थात्—जो मनुष्य धर्म से विमुख है वह बलवान होने पर भी अशक्त[4] है, धनवान होने पर भी निर्धन[5] है तथा शास्त्रों को पढ कर भी

---

१ मोक्ष। २ घृणा करने योग्य। ३ अत्यन्त महत्त्व से युक्त। ४ तात्पर्य यह है कि शारीरिक बल होने पर भी धम के न होने से वह विजयी नहीं हो सकता। ५ तात्पय यह है कि धम से रहित यदि कोइ पुरुष इस समय धनवान

मूर्ख[1] है ॥१॥ जो मनुष्य इस संसार में ही नरक रूप व्याधि की चिकित्सा नहीं करता है वह निरौषध स्थान में जाकर क्या करेगा[2] ॥२॥

संसार में अनेक प्राणी विकृत[3] अङ्ग वाले, कोढ़ी, अन्धे, पङ्गु[4] और दरिद्री दीख पड़ते हैं, उन्हें देख कर मनुष्य को यह सोचना चाहिये कि—ये अपने पूर्वोपार्जित[5] पाप के फल का अनुभव कर रहे हैं, मैंने पूर्वभव में वैसा पापाचरण नहीं किया है; इसलिये इन विपत्तियों से बचा हुआ हूँ, अब भी मुझे वही काम करना चाहिये कि जिससे आगे के लिये भी मैं इस प्रकार की सब विपत्तियों से बचा रहूँ। मानव धर्म शास्त्र में कहा है कि:—

वृषोहि भगवान् धर्म, स्तस्य यः कुरुते ह्यलम्।
वृषलं तं विदुर्देवा स्तस्माद्धर्मं न लोपयेत् ॥१॥
धर्मएव हतो हन्ति, धर्मोरक्षति रक्षितः।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो, मानोधर्मोहतोऽवधीत् ॥२॥

अर्थात्—भगवान् धर्म को वृष कहते हैं, उस (धर्म) का जो नाश करता है उसको विद्वान् लोग वृषल (शूद्र) कहते हैं, इसलिये धर्म का लोप नहीं करना चाहिये ॥१॥ नष्ट किया हुआ धर्म मनुष्य का नाश कर देता है तथा रक्षा किया हुआ धर्म ही मनुष्य की रक्षा करता है; इसलिये धर्म का नाश नहीं करना चाहिये; कि जिससे धर्म भी उसका नाश न करे ॥१॥

है तथापि थोड़े ही समय के पश्चात् उसकी निर्धन होने की बारी आवेगी।

१ तात्पर्य यह है कि शास्त्रों के स्वाध्याय से ज्ञान होता है और ज्ञानका फल विरति है, विरति का फल धर्म सेवन है, यदि शास्त्र का जानने वाला पुरुष भी धर्म सेवन में तत्पर नहीं है तो उसको शास्त्र पढ़ने से क्या लाभ है। २ तात्पर्य यह है कि इस संसार में मनुष्य नरभव को प्राप्त कर यदि धर्म सेवन के द्वारा नरकरूप व्याधि की चिकित्सा नहीं करता है तो अगले तिर्यगादि भव को प्राप्त होकर वह उसकी चिकित्सा कैसे कर सकता है। ३ विकारयुक्त, बिगड़े हुए। ४ लूले। ५ पूर्वकाल में सञ्चित किये हुए।

यह मानी हुई बात है कि जैसा बीज बोया जाता है उसीके अनुरूप वृक्ष उत्पन्न होता है और उसके फल भी वैसे ही होते हैं, कोई मनुष्य बबूल का पेड़ लगा कर यह चाहे कि मैं आम खाऊँ तो यह कैसे हो सकता है ? इसी प्रकार पाप और पुण्य, इन दोनों बीजों से अधर्म और धर्मरूप वृक्ष उत्पन्न होते हैं तथा उनमें दुःख और सुखरूप फल उत्पन्न होते हैं, इसलिये सुख की अभिलाषा रखने वाले मनुष्य को उचित है कि पुण्यरूप बीज से धर्म रूप वृक्ष को उत्पन्न करे कि जिससे उसे सुखरूपी फल प्राप्त हो, अधर्मरूप वृक्ष से सुखरूप फल की प्राप्त कदापि नहीं हो सकती है, क्योंकि यह शास्त्रीय सिद्धान्त अनादि कालसे चला आता है और अनन्तकालतक चला जावेगा कि "धर्मजन्य सुखम्, अधर्मजन्य दुःखम्" अर्थात् धर्म से सुख की और अधर्म से दुःख की उत्पत्ति होती है ।

इसी सिद्धान्त को हृदयस्थ कर तथा मानव जीवन को अमूल्य समझ कर मनुष्य को प्रतिदिन धर्म का आचरण करना चाहिये, प्रतिदिन का थोड़ा २ भी धर्माचरण समय पाकर विशेष सञ्चयरूप, में हो जाता है, इसीलिये नीति शास्त्रज्ञों ने कहा है कि–

अञ्जनस्य क्षयं दृष्ट्वा, वल्मीकस्य च सञ्चयम् ।
अवन्ध्यं दिवसं कुर्यात्, दानाध्ययन कर्मभिः ॥१॥

अर्थात्-अञ्जन के क्षय को देखकर तथा वल्मीक के सञ्चय को देखकर मनुष्य को चाहिये कि सर्वदा दान, स्वाध्याय और सत्कर्म के आचरण के द्वारा दिन को सफल करता रहे[१] ॥१॥

१—अञ्जन नेत्र में अति थोड़ा सा डाला जाता है, परन्तु शनैः २ खर्च होते २ अञ्जन के पहाड़ भी क्षय को प्राप्त होजाते हैं, तथा दीमक वल्मीक को शनैः २ जरा २ सी मिट्टी ला २ कर बनाती है, परन्तु समय पाकर वह वल्मीक पहाड़ के सदृश हो जाता है, यह विचार कर मनुष्य को प्रतिदिन यथाशक्ति धर्माचरण करना चाहिये ।

जो पुरुष इस वाक्य का मनन करता हुआ सर्वदा यथाशक्ति धर्माचरण में तत्पर रहेगा वह निस्संन्देह अपने मानव जीवन को सफल कर आत्म कल्याण का भागी होगा ।

३—धर्मसेवन—योग्यता ।

संसार में प्रत्येक कार्य करने के लिये योग्यता की आवश्यकता है, तात्पर्य यह है कि मनुष्य यदि किसी काम को करना चाहे तो उसे करने से पहिले उसको उसके लिये अपने को योग्य बनाना चाहिये तथा उस कार्य की सिद्धि के लिये आवश्यक साधनों को उपलब्ध[1] करना चाहिये, जो मनुष्य ऐसा न करके अर्थात् अपनी योग्यता वा अयोग्यता का विचार न कर कार्य में प्रवृत्त हो जाता है, उसका वह काम कदापि सिद्ध नहीं होता है, लोगों में उसका उपहास[2] होता है, और पीछे उसे पछताना पड़ता है, यह व्यवस्था जब साधारण कार्यों में भी देखी जाती है तो बुद्धिमान् जन समझ सकते हैं कि धर्माचरण जैसे कठिन कार्य के लिये पर्याप्त[3] योग्यता की आवश्यकता क्यों नहीं है ?

महानुभावों ने धर्माचरण की योग्यता के सम्पादन के विषय में बहुत कुछ उल्लेख किया है, उसी के सार भाग का निदर्शन यहां पर अतिसंक्षेप से किया जाता है:—अनित्यभावना, निरभिमानता तथा सङ्कल्प त्याग, इन तीनों साधनों का सम्पादन करने से मनुष्य में धर्म-सेवन की योग्यता उत्पन्न होती है, संसार, संसारवर्त्ती पदार्थ और शरीर के क्षणभङ्गुर होने के विचार को सर्वदा हृदय में रखने को अनित्य-भावना कहते हैं, सांसारिक सामग्री तथा ऐश्वर्य को प्राप्त कर अपने को बड़ा न समझना तथा आसक्ति[4] को न करना, इसका नाम निरभि-मानता है तथा सांसारिक भोगों, सुखों और कार्यों के लिये पहिले से ही अनेक प्रकार के सङ्कल्पों के न बांधने को सङ्कल्प त्याग कहते हैं,

---

१—प्राप्त । २—हँसी,ठठ्ठा । ३—काफी । ४—प्रेम, प्रीति, तत्परता ।

इनमें से प्रथम साधन की प्राप्ति के लिये नीचे लिखे हुए विचारों का सर्वदा मनन[1] करते रहना चाहिये —

(क) ये सासारिक विषय चाहे मनुष्य के साथ चिरकाल तक रहें तो भी एक दिन ये अवश्य चले जावेंगे इनके वियोग में कोई सन्देह नहीं है, जो मनुष्य इन्हें अपनी इच्छा से छोड़ देता है उसे शान्तिसुख मिलता है किन्तु ये विषय जिस मनुष्य को बलात्कार[2] छोड़ते हैं उसका हृदय पश्चात्ताप रूपी अग्नि से सर्वदा दग्ध होता रहता है।

(ख) धन पैर की धूलि के समान है, युवावस्था पर्वत से गिरने वाली नदी के वेग के समान है, आयु जलके विन्दु[3] के समान चपल[4] है, जीवन फेन के समान है, मनुष्य के लिए धर्म ही स्वर्ग के द्वार को खोलने वाला है, जो मनुष्य उस धर्म का सेवन नहीं करता है वह बुढ़ापे में शोकरूपी अग्नि से जलता है और परलोक में अनेक यातनाओं[5] का सहन करता है।

(ग) यदि अनित्य और मल से भरे हुए शरीर के द्वारा मनुष्य को सर्वदा स्थायी[6] निर्मल यश मिल जावे तो मानों उसे सब कुछ मिल गया।

(घ) परलोक में आत्मकृत[7] धर्म ही सहायक है।

(ङ) बड़े २ प्रतापी दुर्धर्ष महानुभावों का भी साथ इन सासारिक पदार्थों ने न दिया तो ये मेरा साथ क्या देंगे।

(च) यदि सांसारिक पदार्थों और विषयों में कुछ भी तत्त्व होता तो महात्मा, तपस्वी योगी, साधु इनका परित्याग कर मनन के लिये वन में न जाते।

दूसरे साधन की प्राप्ति के लिये नीचे लिखे वाक्यों को हृदय पटल पर लिख लेना चाहिये —

१—विचार। २—जबर्दस्ती से। ३—बूँद। ४—चञ्चल। ५—पीड़ाओं। ६—हमेशा रहने वाला। ७—अपना किया हुआ।

(क) जिन महानुभावों के पास अप्सराओं के मद का दलन[1] करने वाली सैकड़ों सुन्दरियां थीं, "जी हुजूर" कह कर आज्ञा मानने वाले नौकर, नहीं २ मण्डलाधिपति थे, जिनके द्वार पर मदोन्मत्त गजराज मेघवद् गर्जना करते थे और जिनकी सेना में चंचल घोड़ों का नृत्य होता था तथा जिनकी सेना के भार से आक्रान्त होकर पृथिवी भी कंपित होती थी, नेत्रों के बन्द होने पर पूर्वोक्त महानुभावों की भी सामग्री जब स्वप्नवत्[2] विलीन[3] हो गई तो उनके सामने मेरी क्या गिनती है, मेरे पास क्या है और आंखें बन्द हो जाने पर मेरे पास क्या रहेगा।

(ख) सुवर्ण लङ्काधिपति रावण और दुर्योधन सरीखों का भी जब अभिमान से नाश हो गया तो मैं किस बात का मद करूँ, मेरे पास क्या है और कब तक रहेगा।

(ग) विवेकशक्ति,[4] सद्विचार और धर्मनिष्ठा रूप वृक्ष को समूल[5] नष्ट करने के लिये अभिमान नदी के वेग के समान है।

(घ) अभिमानी पुरुष में दया के सद्भाव की मात्रा बहुत ही अल्प[6] रह जाती है और कुछ समय के पश्चात् वह भी विलुप्त[7] हो जाती है, दया के सद्भाव के न रहने से मनुष्य धर्मपथ से परिभ्रष्ट होकर दुर्गति का अधिकारी होता है।

(ङ) अभिमान मनुष्य से कहता है कि—हे मनुष्य! तू अभी मान, अर्थात् तू मेरी बात को अभी मान ले, मुझे छोड़ दे, नहीं तो मैं तेरा नाश कर दूंगा, इसीलिये उसे "अभिमान" कहते हैं जो मनुष्य उस की बात को नहीं मानता है उस का वह अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार थोड़े ही समय में नाश कर देता है।

१—नाश। २—स्वप्न के समान। ३—नष्ट। ४—भले बुरे के भेद के ज्ञान का सामर्थ्य। ५—मूल (जड़) के सहित। ६—थोड़ी। ७—नष्ट।

तीसरे साधन की प्राप्ति के लिये मनुष्य को नीचे लिखे वाक्यों को अपने हृदय पट पर अङ्कित कर लेना चाहिये —

(क) एक भौंरा पराग रस पान के लिये कमल के गर्भ में बैठा था, अचानक सन्ध्या पड़ कर सूर्य अस्त हो गया, रात्रि आ गई और कमल का मुख बन्द हो जाने से भौंरा भी उस के भीतर ही बन्द हो गया, तब वह सोचने लगा कि खैर ! रात्रि बीतेगी, सुन्दर प्रात काल होगा, सूर्य का उदय होगा, तब सब कमल खिलेंगे और मैं उड़ २ कर अनेक कमलों के पराग रस का पान कर अपने को परितृप्त करूँगा, जब वह इन बातों को सोच ही रहा था कि इतने में एक हाथी आया और उस ने कमल को उखाड़ कर अपने मुख में रख लिया, बेचारे भौंरे के सब मनोरथ यों ही रह गये, यही दशा भविष्यत् के लिये मनोरथों के बाँधने वाले जनों की होती है।

(ख) महानुभावों की यह शिक्षा है कि भविष्यत् काल के लिये मनोरथों का बाँधना बालू की दीवार के समान है।

(ग) जो लोग भविष्यत् काल के लिये अनेक सासारिक मनोरथों के सङ्कल्प करते हैं वे मानों सर्व विनाशिनी[1] तृष्णा राक्षसी की उपासना करते हैं इसीलिये वह उन के पास आकर उन के मन को चचल अस्थिर और लोभाविष्ट[2] कर देती है तथा उन्हें स्वकर्त्तव्य से च्युत[3] कर देती है, जो कि ऐसा होने से उन्हें उभय लोक में दु ख मिलता है।

(घ) मिथ्या सङ्कल्पों से तृष्णा उत्पन्न होकर सन्तोष का सर्वथा[4] नाश कर देती है, जोकि (सन्तोष) मन की शान्ति के द्वारा सुख का प्रधान कारण है, मिथ्या सकल्प करने वाले जन सन्तोष रूपी अमृत सुख का आस्वाद कभी नहीं पा सकते हैं, क्योंकि असन्तोष[5] एक नि सीम[6] काँटों वाला दुर्लङ्घ्यमार्ग[7] है।

१—सब का नाश करने वाली। २—लाभ-से युक्त। ३—पृथक्। ४—बिल्कुल। ५—बेसब्री। ६—सीमा रहित, बेहद। ७—कठिन।

(ङ) मिथ्या संकल्प करने के स्वभाव वाले जनों की इच्छा कभी समाप्त अर्थात् पूर्ण नहीं होती है, इच्छा होने पर उस की पूर्ति[1] का न होना परम दुःखकारी होता है, सांसारिक विषयों से इच्छा के न हटने से विरति[2] नहीं होती है तथा विरति के न होने से परमानन्द रूप सुख कभी नहीं मिल सकता है।

(च) मिथ्या संकल्पों से लोभ हृदय में प्रविष्ट होकर मनुष्य से सब प्रकार के अनर्थों को कराता है।

(छ) भावी मनोरथों के संकल्पों से तृष्णा उत्पन्न होकर मनुष्य से निधि[3] प्राप्ति की इच्छा से पृथिवी को खुदवाती है, पर्वत के धातुओं को फुकवाती है, उसे दुर्लङ्घ्य समुद्र के पार ले जाती है, उस से दुर्जनों की सेवा कराती है तथा उसे धनियों के आगे विनीत बना कर विना हँसी के हँसाती है, इत्यादि सब कुछ कराती है, आश्चर्य तो यह है कि इन सब कार्यों के करने पर भी तथा फूटी कौड़ी न मिलने पर भी उस की तो शान्ति नहीं होती है।

(ज) सामान्य अग्नि तो ईंधन के न मिलने से स्वयमेव[4] बुझ जाती है; परन्तु यह तृष्णारूपी अग्नि ऐसी अद्भुत है कि साधन न मिलने पर भी केवल मात्र भावि मनोरथ संकल्प रूप पवन को पाकर और भी प्रचण्ड होकर धधकती ही जाती है और अन्त में मनुष्य का सर्वनाश कर उस का पीछा छोड़ती है।

(झ) मनुष्य का शरीर वृद्धावस्था आने से जीर्ण और शिथिल हो जाता है, दाँत और केश आदि सब नाश को प्राप्त हो जाते हैं तथा प्रत्येक अङ्ग और उपाङ्ग मनुष्य को जवाब दे देते हैं परन्तु भावी मनोरथों के संकल्पों से उत्पन्न तृष्णा तो उस समय में भी तरुण ही रहती है।

१—पूर्णता। २—वैराग्य। ३—खज़ाना मिलना। ४—अपने आप ही।

(घ) तृष्णा को अवकाश देना मानो दासत्व (गुलामी) को ख़रीदना है, दास कदापि सुख का पात्र नहीं होता है।

इस प्रसङ्ग में यह भी कह देना आवश्यक है कि भावी मनोरथों के सङ्कल्प का कारण एकमात्र आशा ही है, इसलिये मनुष्य को आशा का परित्याग करना चाहिये, नीति शास्त्रों का कथन है कि—उसी का पढ़ना सफल है, उसी का शास्त्रश्रवण[1] सफल है तथा उसी का सब कुछ करना सफल है कि जिसने आशा का परित्याग कर नैराश्य[2] का सहारा लिया है, आशारूप एक ऐसा विचित्र फन्दा है कि जिसमें फँस कर मनुष्य का बाहर निकला कठिन हो जाता है। आशारूप एक अगाध नदी है, उस में मनोरथरूपी जल भरा रहता है, राग और द्वेष उसमें ग्राह के समान निवास करते हैं मिथ्या तर्क और वितर्करूपी पक्षी उसके पास क्रीड़ा[3] करते हैं, पूर्वोक्त नदी तृष्णारूपी लहरों से सदा व्याप्त[4] रहती है, जो लोग इस नदी के पार पहुँच जाते हैं वे ही चित्तवृत्ति को एकाग्र कर अपने कर्त्तव्य का पालन कर सुख को प्राप्त होकर आनन्दपूर्वक अपनी जीवन यात्रा को व्यतीत कर सकते हैं।

इस प्रकार इन पूर्वोक्त बातों का मनन कर अनित्य-भावना, निरभिमानता और मिथ्या सङ्कल्प त्याग रूपी तीनों साधनों का अवलम्ब कर प्रत्येक मनुष्य को धर्मसेवन की योग्यता का सम्पादन कर तथा अपनी विवेकशक्ति को शास्त्रानुसारिणी बना कर अहिंसा, संयम और तपरूप धर्म का सेवन करना चाहिये कि जिस से उसे परमानन्द रूप अविनश्वर मोक्ष सुख की प्राप्ति हो।

४—कर्म-विपाक-विवेचन।

पूर्व कहा जा चुका है कि मनुष्य को धर्माचरण से सुख की प्राप्ति होती है, धर्म और अधर्म कर्म का ही भेद है, अर्थात् शुभ कर्म का नाम धर्म और अशुभ कर्म का नाम अधर्म है, इसीलिये समस्त[5]

१—शास्त्र का सुनना। २—निराशत्व। ३—खेल। ४—युक्त। ५—सब

आर्ष[1] ग्रन्थों में मनुष्य के लिये यह शिक्षा दी गई है कि प्रत्येक कार्य को करते समय मनुष्य को उस के परिणाम और विपाक को अवश्य विचार लेना चाहिये देखो! नीति शास्त्र में कहा है कि:—

किं नु मे स्यादिदं कृत्वा, किं नु मे स्यादकुर्वतः।
इति सञ्चिन्त्य मनसा, प्राज्ञः कुर्वीत वा न वा ॥१॥

अर्थात्—इस कार्य को करने से मेरे लिये क्या फल होगा तथा यदि मैं इस कार्य को न करूँ तो मेरे लिये क्या होगा? इस बात को मन से विचार कर बुद्धिमान् पुरुष उस कार्य को करे वा न करे ॥१॥

अन्यत्र भी कहा है कि:—

उचितमनुचितंवा कुर्वता कार्यमादौ।
परिणतिरवधार्या यत्नतः पण्डितेन ॥
अतिरभसकृतानां कर्मणामाविपत्तेः।
भवति हृदयदाही शल्यतुल्यो विपाकः ॥१॥

अर्थात्—उचित अथवा अनुचित कार्य को करते समय बुद्धिमान् पुरुष को उसके परिणाम का विचार पहिले ही अवश्य कर लेना चाहिये, क्योंकि विना विचारे अति शीघ्रता से किये हुए कार्यों का परिणाम मरण पर्यन्त काँटे के समान चुभ कर मनुष्य के हृदय को दग्ध करता रहता है ॥१॥

देखा जाता है कि कभी २ मनुष्य से विना समझे कोई ऐसा काम कर लिया जाता है कि जिसके करने से उसके दोनों लोक बिगड़ जाते हैं और उसका जन्म ही वृथा रूप हो जाता है—अनुचित कार्य के हो जाने के पश्चात् उसके कुविपाक[2] के उपस्थित होने पर यद्यपि मनुष्य पीछे अतिशय[3] पश्चात्ताप[4] भी करता है और कहता है कि हाय मैंने ऐसा काम क्यों किया, परन्तु इससे क्या होता है, कृतकार्य[5] क्या कभी

१—ऋषि प्रणीत। २—बुरे फल। ३—अत्यन्त। ४—पछतावा। ५—किया हुआ।

अकृत रूप हो सकता है? इसीलिये शास्त्रों में पुन २ यह कथन किया गया है कि—"असमीक्ष्य न कर्त्तव्य कर्त्तव्य सुसमीक्षितम्" अर्थात् विना विचारे कोई भी कार्य नहीं करना चाहिये किन्तु प्रत्येक कार्य को अच्छे प्रकार से विचार कर करना चाहिये१।

प्रत्येक मनुष्य को अपनी मननशक्ति के द्वारा निरन्तर इस बात को सोचते रहना चाहिये कि लोक और परलोक के जितने सुख और दु ख हैं उनका एकमात्र कारण मनुष्य का शुभ और अशुभ कर्म ही है, उत्तम गति की प्राप्ति, सद्विभूति[२], नैरोग्य[३], निश्चिन्तता[४] और सत्कान्ति आदि का कारण एक मात्र शुभ कर्म ही है, तथा दुर्गति, दरिद्रता, विविध रोग, चिन्ता, दौर्भाग्य और कुरूपता आदि का एक मात्र कारण अशुभ कर्म ही है, बस इस विषय को हृदय पटल पर अङ्कित कर मनुष्य को सर्वदा शुभ कार्य में प्रवृत्ति और अशुभ कार्य से निवृत्ति करनी चाहिये।

बहुत से लोग असत्[५] कार्य को करके पीछे पछताया करते हैं और वे ऐसा समझते हैं कि इस पश्चात्ताप के करने से हमारा किया हुआ असत्कार्य निष्फल हो जावेगा, यह बात किसी अश में तब ठीक हो सकती है जब कि मनुष्य से अज्ञान दशा में कोई असत्कार्य बन पड़ा हो और वह सच्चे मन (शुद्ध भाव) से गुरू के समक्ष[६] में जाकर उसकी आलोचना कर प्रायश्चित्त का ग्रहण करे और फिर उस

१—कविराय गिरधर ने भी कहा है कि—'विना विचारे जो करे, सो पाछे पछताय। काम बिगारे आपनो जग में होत हँसाय॥ जग में होत हँसाय चित्त में चैन न पावे। खान पान सम्मान राग रग मनहिं न भावे॥ कह गिरधर कविराय दु ख कछु टरत न टारे। खटकत है जिय माहि कियो जो विना विचारे॥'

२—श्रेष्ठ ऐश्वर्य। ३—नीरोगता। ४—बेफिक्री। ५—बुरे। ६—सामने।

असत्कार्य के न करने की दृढ़ प्रतिज्ञा करे, बहुत से लोग बारंबार असत्कार्य को किया करते हैं तथा बारंबार उसके लिये पश्चात्ताप किया करते हैं, ऐसे पश्चात्ताप से कृत असत्कर्म कदापि निष्फल नहीं हो सकता है, देखो! आर्ष ग्रन्थों में कहा है कि—

जो पावं गरहंतो तं चेव निसेवए पुणो पावं।
तस्स गरहावि मिच्छा अनहङ्कारो हि मिच्छत्तं॥१॥

अर्थात् जो मनुष्य पापकर्म करके तथा उसकी निन्दा करके फिर उसी पाप का सेवन करता है, उस पुरुष की वह गर्हा (निन्दा) भी मिथ्या है, क्योंकि—यथार्थतया[1] न करना ही मिथ्यात्व है, देखो! सत्कार्य विषयक प्रवृत्ति के समय में यदि अज्ञानदशा में कोई अनुचित कार्य बन जावे तो "मिथ्यादुष्कृत दान" के द्वारा गर्हा करने से उस दोष की निवृत्ति होती है किन्तु जान बूझ कर अनुचित कार्य कर चुकने पर "मिथ्या दुष्कृतदान" के द्वारा गर्हा करने से दोष की निवृत्ति नहीं होती है।

अन्यत्र भी कहा है कि—

संजमजोगे अब्भुट्ठियस्स जं किंचिवितहमायरिवं।
मिच्छाएयंति वियाणि ऊण मिच्छन्ति कायव्वं॥१॥

अर्थात्—संयमयोग में उद्यम करते समय यदि दैवयोग से कोई विरुद्धाचरण[2] हो जावे तो "यह मेरा विरुद्धाचरण मिथ्या हो" इस बात को सम्यक्तथा[3] जान कर मिथ्यादुष्कृत देना चाहिये॥१॥

इसीलिये तो जैनशास्त्र में प्रतिक्रमणीय पाप का न करना ही उत्सर्ग से "प्रतिक्रमण" कहा गया है, देखो! शास्त्र में कहा है कि:—

जइवि पडिक्कमियव्वं अवस्स काऊणपावयं कम्मं।
तं चेवण कायव्वं तो होइपए पडिक्कन्तो॥१॥

१—ठीक रीति से, सचाई के साथ। २—विरुद्ध व्यवहार। ३—अच्छे प्रकार से।

अर्थात्—यदि प्रतिक्रमणीय पापकर्म बन पड़ा हो अर्थात् कर लिया हो तो फिर न करने की प्रतिज्ञा कर उससे सर्वदा बचे रहना चाहिये, इसी का नाम प्रतिक्रमण है ॥१॥

(प्रश्न) इस पूर्वोक्त कथन के अनुसार देशविरत (श्रावक) का तो प्रतिक्रमण आदि नहीं हो सकता है।

(उत्तर) क्यों नहीं हो सकता है ? उसके प्रतिक्रमणादि में कोई बाधा नहीं आ सकती है, क्योंकि मर्यादावस्थानरूप "मे" पद का अर्थ वहां समझा जाता है, हां यह अवश्य जान लेना चाहिये कि दुष्टान्तरात्मा[1] मर्यादा में स्थित न रह कर यों ही मिथ्यादुष्कृत देता है अत प्रत्यक्ष मिथ्यावाद आदि के द्वारा उसको उसका फल नहीं होता है, कहा भी है कि —

जं दुक्कडंति मिच्छा तं चेव निसेवए पुणो पावं ।
पच्चक्खमुसावाई माया नियडी पसंगो य ॥१॥

अर्थात्—जो पुरुष "दुष्कृत मिथ्या हो" इस बात को कह कर फिर उसी पाप का सेवन करता है उसे प्रत्यक्ष मृषावादी[2] तथा मायाजाल में तत्पर समझना चाहिये ॥१॥ हाँ जो पुरुष मिथ्या दुष्कृत को देकर उस कार्य से तथा उसके कारण से सर्वदा बचा रहता है उसी का मिथ्या दुष्कृत देना सफल होता है, देखो कहा भी है कि—

जं दुक्कडंतिमिच्छा तं भुज्जो कारणं अपूरन्तो ।
तिविहेण पडिक्कंतो तस्स खलु दुक्कडं मिच्छमि ॥१॥

अर्थात्—जो पुरुष मिथ्या दुष्कृत देकर फिर उस कार्य के कारण से विरत रहता है तथा उस पापाचरण से तीन प्रकार से[3] प्रतिक्रमण करता है उसी का मिथ्या दुष्कृत देना सफल होता है ॥१॥

१—दुष्ट अन्तःकरण वाला । २—मिथ्यावादी । ३—मन, वचन और कर्मसे ।

(प्रश्न) भूतकाल के पाप की गर्हा होती है (कि हाय मैंने बुरा किया) किन्तु भविष्यत् काल के पाप की गर्हा नहीं होती है, जब यह बात है तो भविष्यत् काल में उस पाप का आसेवन करने पर भी मिथ्या दुष्कृत दान निष्फल नहीं हो सकता है, क्योंकि वह तो भूतकाल में किये हुए पाप का निवर्त्तक[1] माना जाता है।

(उत्तर) तुम्हारा यह कथन ठीक नहीं है; क्योंकि द्रव्य से मिथ्या दुष्कृतदान ही फलयुक्त नहीं होता है किन्तु भाव से मिथ्या दुष्कृतदान सफल होता है, यह (भाव से मिथ्या दुष्कृतदान) उन पुरुषों से नहीं हो सकता है जो कि मर्यादा में स्थित नहीं हैं, क्योंकि उनमें मिथ्या दुष्कृतदान का अक्षरार्थ नहीं घटित होता है।

(प्रश्न) "मिच्छामि दुक्कडं" इस वाक्य का अक्षरार्थ क्या है ?

(उत्तर) उक्त वाक्य का अक्षरार्थ यह है कि "मि" इस अक्षर का अर्थ यह है कि कायभाव नम्रता रूप मृदुत्त्व का होना, "च्छा" इसका अर्थ यह है कि सदाचार (वा संयमपालन) में जो दोष हुआ है उसका आच्छादान करना, "मि" इसका अर्थ यह है कि चारित्ररूप मर्यादा, "दु" इसका अर्थ यह है कि दुष्कृत कर्म को करने वाले अपने पर मैं जुगुप्सा[2] करता हूँ, "क" इसका अर्थ यह है कि मैं अपने किये हुए पाप को स्वीकार करता हूँ "डं" इसका अर्थ यह है कि अब मैं उपशम के द्वारा उस पाप का खण्डन करता[3] हूँ यह मिथ्या दुष्कृत-दान मर्यादा रहित पुरुषों का नहीं हो सकता है इसलिये उनका मिथ्या-दुष्कृत दान निष्फल ही होता है।

१—हटाने वाला। २—घृणा। ३—पूर्वोक्त अर्थ की बोधिका ये गाथायें हैं:—

मित्तिमिउ मद्दवत्थे छत्ति अ दोसाण छायण होइ।
मित्ति अमेराइठिओ दुत्तिदुगंछामि अप्पाणं ॥१॥
कत्ति कडं मे पावंडत्ति अडेवेमि तं उवसमेणं।
एसो मिच्छादुक्कडपयक्खरत्थो समासेणं ॥२॥

(प्रश्न) पदों और वाक्यों का तो अर्थ देखा जाता है, परन्तु अक्षरों का तो अर्थ कहीं भी देखा और सुना नहीं है।

(उत्तर) पद वाक्य का एक भाग होता है तथा अक्षर पद का एक भाग होता है, इसलिये जिस प्रकार पद अर्थयुक्त होता है उसी प्रकार अक्षर भी अर्थयुक्त होता है, यदि अक्षर अर्थयुक्त न हो तो पद और वाक्य भी अर्थयुक्त नहीं हो सकता है, क्योंकि जो धर्म प्रत्येक में नहीं होता है वह समुदाय में भी नहीं हो सकता है, जैसे सिकताकण[1] में तैल नहीं होता है अत[2] सिकता समुदाय में भी तैल नहीं होता है तथा जैसे प्रत्येक तिल में तैल होता है इसलिये तिल समुदाय में भी तैल होता है, इस सम्प्रदाय से अक्षर भी सार्थक होता है, इसमें भ्रान्ति मत करो।

अब ऊपर के कथन से यह जान लेना चाहिये कि "मिथ्यादुष्कृत" पद के अक्षरों के अर्थ के अनुसार जिस पुरुष की मिथ्यादुष्कृतदानोसन्न गर्हा होती है उस की वह फलवती होती है, किन्तु उस से भिन्न पुरुष की गर्हा तो मिथ्या रूप ही होती है, जो कि प्रतिज्ञा का भग कर के फिर वैसा ही काम करता है, क्योंकि प्रतिज्ञा के अनुसार न करना ही मिथ्यात्व का लक्षण है, देखो। कहा भी है कि—

जो जहवाय न कुणइ मिच्छादिट्ठी तओ हु को अन्नो।
वड्ढेइ यमिच्छत्त परस्स सक जणे माणे ॥ १ ॥

अर्थात् जो मनुष्य प्रतिज्ञात[3] वचन के अनुसार कार्य नहीं करता है उस से बढ़ कर और कौन मिथ्या दृष्टि है? दूसरे को शका उत्पन्न करने से उस का मिथ्यात्व बढ़ता ही जाता है ॥१॥

(प्रश्न) कर्म किस को कहते हैं?

(उत्तर) चतुर्गति को प्राप्त हुआ जीव मिथ्यात्व आदि कारणों से जिस क्रिया विशेष को करता है, उस को कर्म कहते हैं।

१—रेत, बालू। २—इसलिये। ३—प्रतिज्ञा किये हुए।

रोगी मनुष्य अपने रोग की अनुभूत औषधि को चाहे जानता भी हो तथापि वह जब तक उसका उपयोग व सेवन नहीं करेगा तब तक उसका रोग कदापि दूर नहीं होगा, इसी प्रकार यदि कोई रोगी बिना जाने चाहे कितनी ही औषधियों का सेवन क्यों न करे उसका भी रोग निवृत्त नहीं हो सकता है।

(प्रश्न) यदि ज्ञान और क्रिया, दोनों से मोक्ष की प्राप्ति होती है तो "ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः" यह सिद्धान्त निर्मूल हो जाता है।

(उत्तर) तुम बड़ी ही अज्ञानता का प्रश्न करते हो, उक्त सिद्धान्त निर्मूल नहीं होता है, किन्तु ज्ञान की कथञ्चित् प्रधानता दिखलाने के लिये उक्त कथन किया गया है, क्योंकि ज्ञान के उत्पन्न होने पर ही क्रिया में प्रवृत्ति होती[1] है, बस ज्ञानपूर्वक क्रिया में प्रवृत्ति होनेसे मोक्ष की प्राप्ति होती है, इसलिये ज्ञान और क्रिया (दोनों ही मिश्रित) मोक्ष साधन रूप हैं।

(प्रश्न) ज्ञान के उत्पन्न होने पर रागादि दोष क्यों निवृत्त होजाते हैं।

(उत्तर) यह नियम है कि विपक्षी[2] साधन के प्रबल होने पर पूर्ववर्त्ती[3] विरोधी पदार्थ नष्ट हो जाता है, जैसे शीतोत्पन्न, रोमहर्ष और कम्प आदि धर्म अग्नि की प्रबलता होने पर समूल नष्ट हो जाते हैं।

(प्रश्न) यह तो हमने माना कि यथार्थ ज्ञान के उत्पन्न होने पर रागादि दोष निवृत्त हो जाते हैं परन्तु कृपा करके यह तो बतलाइये कि वे किस रीति से निवृत्त होते हैं ?

है, हां वे अन्धे और लूले मिलकर दोनों ही यथष्ट स्थान पर पहुंच सकते हैं। इस प्रकार कि—लूला मनुष्य अन्धे मनुष्य के कन्धे पर बैठकर उसे मार्ग बतलाता चले और अन्धा मनुष्य लूले मनुष्य के बतलाये हुए मार्ग पर चलता रहे। बस यही ज्ञान और क्रिया के विषय में जान लेना चाहिये।

१—जो जानता ही नहीं है वह क्या कर सकता है अतएव कहा गया है कि—"अज्ञानी किं काही" अर्थात् अज्ञानी क्या कर सकता है २—विरोधी। ३ पहिले वाला।

(उत्तर) यथार्थज्ञान के उत्पन्न होने पर मनुष्य संसार तथा संसारवर्त्ती पदार्थों के यथार्थ तत्त्व को जान लेता है तथा उनकी अनित्यता की भावना उसके हृदयङ्गत[1] हो जाती है, ऐसा होने पर ममत्त्व छूट कर उसमें समता का परिणाम उत्पन्न होता है, ममत्त्व के छूटने से राग की निवृत्ति हो जाती है तथा समता के परिणाम से राग का साथी द्वेष भी कपूर हो जाता है।

(प्रश्न) अब कृपया यह बतलावें कि राग और द्वेषादि की निवृत्ति होने पर वैराग्य क्यों उत्पन्न होता है ?

(उत्तर) अभी कहा जा चुका है कि—यथार्थ ज्ञान के उत्पन्न होने पर सद्भावना के द्वारा ममत्त्व छूट जाता है, जो कि राग का कारण है, ममत्त्वरूपी कारण का नाश होने से उसका कार्य्य राग भी समूल नष्ट हो जाता है, राग के विनष्ट होने से उसका साथी[2] अपने प्रबल शत्रु समता परिणाम[3] को देख कर स्वयमेव विलीन[4] हो जाता है, इस प्रकार राग और द्वेष के निवृत्त हो जाने से तथा समता परिणाम के उत्पन्न होने से—यथार्थ ज्ञानजन्य[5] सद्भावना का अखण्ड[6] विकाश हो जाता है तथा उसका विकाश होने से संसार और संसारवर्त्ती पदार्थों में मनोवृत्ति की तनिक भी आसक्ति नहीं होती है, बस इसी अनासक्ति का नाम वैराग्य है।

(प्रश्न) वैराग्य के उत्पन्न होने पर मोह की निवृत्ति क्यों होती है ?

(उत्तर) देखो ! कारण के विना कोई कार्य नही होता है अर्थात् सब ही कार्य अपने २ कारण से उत्पन्न होते हैं, मोह का कारण भी

१—हृदय में स्थित। २—राग का साथी द्वेष इसलिये है कि राग के ही होने पर विरोधी साधन में द्वेष होता है।

३—समता परिणाम द्वेष का प्रबल शत्रु इसलिये है कि इसके होने पर प्राणी की द्वेष बुद्धि रसातल को पहुँच जाती है, सत्य है जिसकी सब पर सम दृष्टि है वह द्वेष किस पर करेगा। ४—नष्ट। ५—यथार्थ ज्ञान से उत्पन्न। ६—पूर्ण।

मूर्च्छा वा आसक्ति है, उस आसक्तिरूपी कारण के नष्ट हो जाने से उसका कार्य मोह कैसे रह सकता है ?

(प्रश्न) मोह का विनाश होने पर मनुष्य अपने कर्त्तव्य पालन के द्वारा सुख धाम को कैसे प्राप्त होता है ?

(उत्तर) मोह का विनाश होने पर मनुष्य की चित्त वृत्ति इधर उधर नहीं भटकती है, अर्थात् स्थिर रूप हो जाती है, उसके स्थिर होने से घ न्धन की हेतु रूप दुर्वासनाओं का प्रादुर्भाव[1] नहीं होता है, उनका प्रादुर्भाव न होने से मनुष्य सर्वदा शास्त्रोक्त मर्यादा का अनुसरण कर अपने कर्त्तव्य का पालन करता रहता है और ऐसा करने से उसे सुखधाम की प्राप्ति होती है।

(प्रश्न) आपने कृपा करके वैराग्य तथा उसकी प्राप्ति का अच्छा विवेचन किया, अब कृपा करके कुछ ऐसे साधनों का वर्णन कीजिये कि जिनके परिशीलन[2] से शीघ्र ही वैराग्य की प्राप्ति हो ?

(उत्तर) तुम्हारा यह प्रश्न बड़ा ही 'जटिल'[3] है, इसका उत्तर देने का साहस नहीं होता है, वह इसीलिये कि वैराग्य प्राप्ति के साधनों के वर्णन का विषय अति गहन, बृहत् तथा विद्वद्गम्य है, इसका विस्तार पूर्वक वर्णन करने में एक नहीं किन्तु अनेक बड़े २ ग्रन्थ बन सक्ते हैं, परन्तु तुम्हारी इच्छा है इसलिये वैराग्य प्राप्ति के कतिपय साधनों के नाममात्र का उल्लेख यहां पर किया जाता है।

(क) वैराग्य प्राप्ति का आद्य[4] साधन यथार्थ ज्ञान है, जिसकी प्राप्ति सत्सङ्ग, स्वाध्याय, गुरुसेवा तथा गुरूपदेश आदि साधनों के द्वारा होती है।

(ख) वैराग्य प्राप्ति का दूसरा साधन सद्भावना है अर्थात् देव, गुरु और धर्म की भक्ति में तत्पर रह कर सर्वदा उनके महत्त्व का विचार करना।

१—उत्पत्ति। २—सेवन। ३—गहन कठिन, गंभीर। ४—पहिला।

(ग) इसका तीसरा साधन धर्मदृढ़ता है अर्थात् कैसा ही कठिन समय क्यों न उपस्थित हो तो भी धर्म पालन से विमुख न होना ।

(घ) चौथा साधन अनित्य भावना है. अर्थात् संसार और संसारवर्त्ती पदार्थों की क्षणभङ्गुरता और मानवजीवन की अस्थिरता का सर्वदा विचार करते रहना ।

(ङ) पांचवां साधन भगवदुपासना है अर्थात् श्री तीर्थङ्कर भगवान् के गुणों का कीर्त्तन करना और उनके वाक्यों पर सत्य भाव से आस्था रखना ।

(च) महात्मा जनों के चारित्र का अवलोकन करना तथा तदनुसार अपने को वनाने के लिये उद्यम करना ।

(छ) प्रतिदिन को धर्मसेवन के द्वारा सफल करना तथा धर्म-सेवन से वर्जित समय के व्यतीत होने पर अनुताप करना ।

(ज) योगादि योग्य साधनों के द्वारा आत्मा को वलवान्, मन को स्थिर तथा इन्द्रियों को शान्त करना ।

इत्यादि अनेक साधन वैराग्य प्राप्ति के हैं, यहां पर मुख्य २ साधनो के नाम मात्र का उल्लेख किया गया है ।

(प्रश्न) अब कृपा करके नीति, वैराग्य, धर्म और ज्ञानादि विषयक आवश्यक तथा उपयोगी कुछ दोहे आदि का उल्लेख कीजिये कि जिनका अभ्यास करने से हमारे जैसे साधारण जनों को भी लाभ प्राप्त हो ।

(उत्तर) अच्छी वात है, सर्वसाधारण के लाभ के लिये कतिपय दोहों का उल्लेख किया जाता है, सुनो—

देवो यश को मूल है, याते देवो ठीक ।
पर देवे में जानिये, दुख कबहूँ नहिं नीक ॥ १ ॥
सञ्चय करिवो है भलो, सो आवे बहु काम ।
पाप न सञ्चय कीजिये, जो अपयश को धाम ॥ २ ॥

जड़ कबहूँ नहिं काटिये, काहू की मन धार।
पापरु ऋण की जड़ कटी, भलो यही निर्धार ॥ ३ ॥
भलो होत नहिं मारबो, काहू को जग माहिं।
भलो मारिबो क्रोध को, तासम नररिपु[1] नाहिं ॥ ४ ॥
करै हिरस जो काहु की, तामें लहै नर हान।
पर विद्या की हिरस बर, जाते हो जग मान ॥ ५ ॥
भलो न जग मे आस[2] कोउ, आस दुःख को मूल।
पर गुरु पितु के आस तें, मिटै क्लेश को मूल ॥ ६ ॥
प्रातहिं उठिके नित्त नित, करिये प्रभु को ध्यान।
जातें जग में होय सुख, अरु उपजे शुभ ज्ञान ॥ ७ ॥
काहूतें कडुओ वचन, कहिये नहीं सुजान।
तुरत मनुज[3] के हृदय को, छेदत है जिमि बान ॥ ८ ॥
पढ़िबे में कबहू नहीं, नागा करिये भूल।
कुपढ़ लोग माँगत फिरैं, सहैं निरादर मूल ॥ ९ ॥
जो जन ईर्षा धारिके, जरत देखि पर वित्त।
कैसे ऐसे पुरुष को, शीतल होवै चित्त ॥ १० ॥
जानि ईश सर्वज्ञ को, करहु न कबहूँ पाप।
सबहि चराचर जगत को, देखत है यह आप ॥ ११ ॥
सुनि के दुर्जन के वचन, सुजन रहै चुपचाप।
करत जो समता[4] तासुकी, नीच कहावै आप ॥ १२ ॥
सुखी जगत् में कौन है, कहो मोहि समुझाय।
होय लीन भगवान में, सुखी वही जग माय ॥ १३ ॥
दुखी करत हैं कौन को, इस सृष्टी के बीच।
पर सम्पति देखी जरै, दुखी रहत यह नीच ॥ १४ ॥

१—शत्रु। २—मद। ३—मनुष्य। ४—बराबरी।

कौन धनी है जगत में, जाको चित न डुलाय।
जो राखे सन्तोष मन, वह धनवान कहाय॥ १५॥
पुण्यवान जग कौन है, उसकी कह पहचान।
प्रभु को भय जिसके हृदय, पुण्यवान सो जान॥ १६॥
पापी नर जो जगत में, वह किमि जान्यो जाय।
रहै प्रभू से विमुख जो, पापी वही कहाय॥ १७॥
चतुरन को कैसे लखैं, लच्छण कहो बखान।
जो जग निन्दा सों डरै, सोही चतुर सुजान॥ १८॥
सज्जन जन जग कौन से, कहु निश्चय करि मोय।
राखि दया सब भल चहै, सज्जन जानहु सोय॥ १६॥
सब ही जन जग एक से, कैसे दुष्ट जनाय।
परनिन्दा को जो करै, सोही दुष्ट कहाय॥ २०॥
बड़ो कौन या जगत् में, मैं पूछूं यह बात।
ढकै दोष जो और को, सो जन बड़ो कहाय॥२१॥
परनिन्दा कर जो तुम्हें, देत बड़ाई पूर।
मत भूलो इस बात को, है नर सोही क्रूर॥२२॥
दर्शन ज्ञान सु साधि के, संयम पाले जोय।
निरत होय निज धर्म में, साधु कहावे सोय॥२३॥
ज्ञान रमण निशिदिन करै, राग द्वेष को छोड़।
सत्य साधु है जगत में, कर्म ग्रन्थि जो तोड़॥२४॥
ज्ञानी नर संसार में, उज्ज्वल फटिक समान।
तिमिर नसावत और को, करले आप समान॥२५॥
ज्ञानी के मन बसत है, पर उपकारी बात।
यहि लच्छन तें जान लो, ज्ञानी नरहि सुतात॥२६॥
ज्ञान रतन को पारखी, सच्चे जिसके बैन।
नम्र रहत वह सर्वदा, नीचे राखत नैन॥२७॥

ज्ञानी नाम धराय के, सावद[1] भाखै जोय।
ऐसे नर को नहिं कभी, ज्ञानी जाने कोय ॥२८॥
राग द्वेष के वश रहै, पर अवगुण उपदेश।
निज अवगुण देखे नहीं, ज्ञान नहीं लवलेश[2] ॥२९॥
मिथ्याडम्बर[3] राखि के, मूर्ख जनहि बहकाय।
करै पिशुनता और की, वह मरि नर्कहिं जाय ॥३०॥
हम हैं उत्तम साधु जन, और पसत्था होय।
दे ऐसो उपदेश जो, मिथ्याडम्बरि सोय ॥३१॥
ज्ञानरहित जो साध्विया, वे हू कहत पुकार।
हम सम और न कोइ है, तिनहू में नहि सार ॥३२॥
दीक्षा हमसे लीजिये, हमही मुक्ती देय।
निज मुख ऐसा उचरैं, साध्वी नहि हैं तेय ॥३३॥
पक्षपात सब छोडि मन, शुद्ध साधुता लेय।
तासु साधुता गेय है, और साधुता हेय ॥३४॥
साधु उचित कर्त्तव्य है, तजै ईरषा क्रोध।
सब पर समता राखिकै, देहि सबहिं सद्बोध ॥३५॥
साधू नाम धराय के, मुक्ति न पहुँचे कोय।
जो सुख मुक्ती का चहै, पर निन्दा सो खोय ॥३६॥
मेरुतुल्य सग्रह किया, वेष साधु का धार।
परनिन्दा त्यागी नहीं, गया जन्म निज हार ॥३७॥
प्रभुजी नहि कहुँ भाषिया, करो पराई घात।
ते जिन वचन विराध का, दुःख पावे दिन रात। ३८॥
पर उपदेश न कुशल है, देखे बहुतक साध।
निज आतम कुशला नहीं, कैसे कटै उपाध ॥३९॥

१—[illegible]। २—थोड़ा भी। ३—झूँठा आडम्बर (ढोंगपना)

गुप्ति समिति धारक अहै, जग में नर जो कोय।
निज संयम पालन करत, साधु कहावै सोय ॥४०॥
समिती नो पाले नहीं, मन वच गोपै नाय।
काया की थिरता नहीं, मिथ्या साधु कहाय ॥४१॥
बुद्धिलेश घट में नहीं, नहीं दया को लेश।
व्यर्थ साधुता जो धरै, ताको कहा उपदेश ।४२॥
आदि वर्ण कहं लीजिये, तामें अन्त्य मिलाय[1]।
यह सब जग को खात है, किहि पर रह्यो भुलाय ॥४३॥
उत्तमता उत्तम भजै, नीच नीचता होय।
जैसे पहँ तैसा रहै, बुरा न माने कोय ॥४४॥
सज्जन दुर्जन दोय हैं, जगत जनन के मांय।
स्वर्ण स्वर्णता वसत है, पीतल पीतल भाय ॥४५॥
दुर्जन को मुख जगत् में, सर्प बांबि जिमि जोय।
तातें निकसत दुरवचन, पन्नग जिमि जिय जोय ॥४६॥
दुष्ट वचन बोलो नहीं, यह अनरथ का मूल।
शर समान ये जानिये, भेदत हिरदै मूल ॥४७॥
या जग में तुम जान लो, तीन रतन परमाण।
ज्ञान, दरश चारित्र हैं, इनसे हो निर्वाण ॥४८॥
अन्य रतन हू तीन हैं, पानी अन्न सुजान।
मीठा सबसे बोलना, यह भाषत बुधिमान ॥४९॥
सुजन न छांडे सुजनता, केतोहूँ दुख होय।
छेदत हू चन्दन विटप, देत सुगन्धी सोय ॥५०॥
कञ्चन पीतल सम गिनै, मूरख जन की रीत।
गुण अवगुण जानै नहीं, सबको गिनै अतीत[2] ॥५१॥

१—"काजल" शब्द में से आदि व अन्त का अक्षर मिलाने से काल होता है। २—अतिथि, साधु, अभ्यागत।

सबसे मीठा बोलियो, मधुर वचन तें लाभ।
दुर्जन से सज्जन बनै, होवे बहुतहिं लाभ ॥५२॥
प्राण घात कीजै नहीं, छः काया की भाय[1]।
निज आतम सम जानिये, निश्चय मुक्ती थाय ॥५३॥
झूठ नरक को मूल है, अरु अपयश को धाम।
ताहि सर्वथा छाड़िये, तो पावै शिव धाम ॥५४॥
चोरी कबहुँ न कीजिये, चोरी नरक दुवार[2]।
वध बधन मारों पड़े, नहि होवै भव पार ॥५५॥
मैथुन पाप महा बुरा, यह जग मे विकराल।
यहि तें विनसे ज्ञानि ह, इन्द्र चन्द्र वेहाल ॥५६॥
जिनने इसको जीतिया, ते नर जग के मौल।
तीन लोक वन्दन करत, मन में हर्ष अतौल ॥५७॥
मोह परिग्रह त्याग कर, मूर्छ परिग्रह होय।
बाहर भीतर शोध कर, सिद्ध स्वरूपी होय ॥५८॥
छटा पाप यह क्रोध है, है अनरथ को मूल।
इसको मूल उखाड़ि के, नर पावत शिव मूल ॥५९॥
मान न कीजै जगत नर, मान नरक दातार।
सभुम चक्री मान वश, तमतम लह्योऽवतार ॥६०॥
कपट रूप माया बुरी, माया अति दुखदाय।
माया नासै मित्रता, नर सें नारी थाय ॥६१॥
लोभ चतुर्थ कषाय है, है यह अति विकराल।
सब पापन को मूल है, तोष हेतु तें टाल ॥६२॥
तीन राग ज्ञानी करत, राग करत अज्ञान।
इसको त्यागै जो मनुज, लहै परम कल्यान ॥६३॥

१—हे भाइ। २—द्वार, दर्वाजा।

द्वेष बुद्धि को त्याग दे, द्वेष कर्म को मूल ।
कर्म बन्ध हो चीकना, किमि उखड़े भवमूल ॥६४॥
क्लेशसरिस कोउ रिपु नहीं, क्षण में दुर्जन होय ।
मात पिता अरु सजन सब, छन में दूरहिं होय ॥६५॥
अभ्याख्यानहिं मत करो, यह करसी[1] तुझ हान ।
ये ही तुझको भोगना, उलटा पड़सी[2] आन[3] ॥६६॥
चुगली करै सो चोरटा, पाप बीज यह जान ।
भव भव मांही ते रुले[4], पावै नहिं निरवान[5] ॥६७॥
पर प्रवाद[6] बोलो नहीं, मुक्ति हानि कर सोय ।
स्वर्गहु को बाधक अहै, यातें ताकों खोय ॥६८॥
रति अरति आनो[7] मती, हर्ष रंज सब खोय ।
सम भावहिं बरतो सदा, सिद्ध सरूपी होय ॥६९॥
परथापना[8] राखो मती, यह गुसी की मार ।
"धरजा मरजा भूलजा", याको देहु विसार ॥७०॥
मिथ्या शल्य को काढ़ कर, समकित[9] बीजहिं बोय ।
यही वज्र मोटो[10] घणो[11], चतुर होय सो खोय ॥७१॥
ये अष्टादश पाप हैं, नरक रुलावें[12] भाय ।
इनकी करत अलोयणा, सो पूरण सुख पाय ॥७२॥
आर्यां भूरां सुन्दरी, कहै सुनहुँ सब भाय ।
जो आलोवे पाप को, सो नर मुक्तिहिं जाय ॥७३॥
आलोयण[13] यह नित पढ़ै, मन वच राखी ठाम ।
शुध मन से सुमिरन करे, सो पावहि शिवधाम ॥७४॥

१—करेगा । २—पड़ेगा । ३—लौट कर, पुनः । ४—भटकता है । ५—मोक्ष । ६—निन्दावचन । ७—लाओ । ८—दूसरे की धरोहर । ९—सम्यक्त्व । १०—बड़ा । ११—बहुत । १२—फिराते हैं । १३—आलोचना इस प्रकार करनी चाहिये—"ये अठारह पाप मन से, वचन से और काया से

अधंधार कर जो पढ़ै, समता रस में झूल[१]।
कटैं[२] पाप सब पाछला[३], मन को रोके मूल ॥७५॥
कर्म करैं ते बावरे, काटे तोहिं ते शूर।
कर्म बीज संसार का, कर्म बिगाड़े नूर[४] ॥७६॥
क्षमा जगत में नूप[५] है, क्षमा करो सब कोय।
क्षमा धारि शिवसुख लहै, क्षमा धारि घन होय ॥७७॥
गरब करो मत जीवड़ा[६], गरबहिं अपयश धाम।
गरब थकी[७] चक्री[८] गले, गरब महा निकाम[९] ॥७८॥
नर भव रतनहिं पाय करि, तू संचय कर ज्ञान।
नर नरभव खोओ मतो, पाओ मोक्ष सुधाम[१०] ॥७९॥
घट में अमृत राखल्यो[११] करो जहर को दूर।
सुघट[१२] बनाओ हृदय को, राखो विष ते दूर ॥८०॥
चर अरु अचर जगत अहै[१३], जीव चराचर जान।
चर अरु अचरहि कर्म है, समुझो चतुर सुजान ॥८१॥
छल कपहूँ तुम ना करहु, करहीं नीच गँवार।
छल करि चहुँगति रुलैं[१४], छल से होत खवार[१५] ॥८२॥
जतना में जैनी बसैं, जतना जैन समाय[१६]।
जतना नहिं जिस जीव में, जतन अजतना थाय ॥८३॥

गुण्या होय, सेवाण्या होय, सेवता ने भला जाणया होय तथा मुझे रायसी, देवसी, पक्षी, चौमासी, संवत्सरी सम्बन्धी कोई पाप लगा होय तो मिच्छामि दुक्कडं ॥"

१—निमग्न होकर। २—यहां से ककाबत्तीसी लिखी जाती है। ३—पिछले। ४—कान्ति शोभा। ५—मनुरत्न। ६—हे जीव। ७—अभिमान से। ८—नष्ट हुए। ९—निकम्मा। १०—उत्तम स्थान। ११—रख लो। १२—सुघड़। १३—है। १४—चारों गतियों में भटकना है। १५—बरबाद। १६—रहता है।

झटपट देवहु दान को, झटपट शीलहिं धार।
झटपट तपसा[1] आदरहु, झटपट भाव सुधार ॥८४॥
नना नगन ना होय कर, नना मनुज भव पाय।
नना परिग्रह छाँड़ि कर, नना मोक्ष लै जाय ॥८५॥
टका गृहस्थी मूल है, टका संजम[2] को नाश।
टका टका के वश पड़े, टका शरीर विनाश ॥८६॥
ठठा ठगन के नगर में, ठठा वसीजो[3] आय।
ठठा तुहूं छाड़े नहीं, ठठा अनन्त ठगाय ॥८७॥
डर परभव का नित करो, डर से सुधरै काज।
डर से जो डरपे नहीं, डर विन होय अकाज[4] ॥८८॥
ढूँढ्यो सब जग छानि के, ढूँढ़ो आप मझार[5]।
ढूँढेहूँ नहिं पाइयो, ढूँढ्यो अनतीवार[6] ॥८९॥
णणाविधी का भेषधरि, णाणा[7] कर्म कराय।
णाणा[8] विधि का काम करि, णाणा[9] गति में जाय ॥९०॥
तारो श्री भगवान्जी, तारो चन्द्र कहाय।
तारो घर के द्वार पर, तारो सवहिं समाय ॥९१॥
थिर[10] नहिं तन धन है सबै, थिर नहिं योवन धाम[11]।
थिर नहिं चक्रि[12] तिर्थंकरा[13], थिर नहिं ब्रह्मा श्याम ॥९२॥
दान[14] मान सबही करैं, दानहिं होत समाधि[15]।
दान[16] दरिद्रहुँ नसत है, नाशै दुरित[17] उपाधि ॥९३॥

१—तपस्या। २—संयम। ३—रहना। ४—विगाड़। ५—आप में। ६—अनन्तवार। ७—अनेक। ८—अनेक ९—अनेक। १०—स्थिर। ११—घर। १२—चक्री। १३—तीर्थंकर। १४—दानसे। १५—सुख। १६—दान से। १७—पाप।

धर्महिं मङ्गलरूप है, धर्म दुर्गती नाश[1]।
धर्म धकी[2] धन सचिये, धर्महि[3] करौ निवास ॥९४॥
नना नमन करहु सदा, नन्ना नाथ धराय।
नना नाक हीं राखिये, नना करै उपाय ॥९५॥
पापी जन नरकहिं परैं, पापी लहत सुदुक्ख।
पापी कुगुरु सग ते, होत कबहुँ नहि सुक्ख ॥९६॥
फूले फूल्यों घात है फूले होय विनास।
फूले साधुहिं देख कै, धर्महि[4] करहु निवास ॥९७॥
बालकपन अज्ञान मे, बाल कह्यो जिनराय।
बालक है शत वर्ष को, बालहि दुर्गति जाय ॥९८॥
भगवद भजन करहु सदा, भगवद है सुखदाय।
भगवद सोही जानिये, भव को नाश कराय ॥९९॥
मरना, जग मे अवश[5] है, मरना राखो याद।
मरने को जो भूलि है, मरकर सहत विपाद[6] ॥१००॥
यारी तो प्रभु से करो, यारी और खवार[7]।
यारी गति जानो नहीं, यारी तेह[8] विसार[9] ॥१०१॥
रटहु सदा जिन नाम को, रटौ जु आतमराम।
रटहु पराये गुणन को, रटे मिलत सुखधाम[10] ॥१०२॥
लालच कबहुँ न कीजिये, लालच बुरी बलाय।
लालच मे फंसि के मनुज, लाल[11] न कबहूँ पाय ॥१०३
विवेक मन में धार लो, रखो विवेक सुध्यान।
विवेक विन कह[12] जीवड़ा[13], विन विवेक जग हान ॥१०४॥

१—दुर्गति का नाशक। २—से। ३—धर्म में। ४—धर्म में ही।
५—अवश्य। ६—दुःख। ७—बर्बादी का कारण। ८—उस। ९—भूल जाओ।
१०—सुख का स्थान। ११—एक प्रकार का मणि। १[२]—क्या। १३—हृदय, जीव।

समता सरहिं[1] बनाय के, समता कमल लगाय।
समता के मधुकर[2] फिरैं, समता रस लैजायँ ॥१०५॥
हर्जा किसि का मत करौ, हरजा हरजा होय।
हरजा से वर्जित रहे, हरज न अपना होय ॥१०६॥
ज्ञानी ध्यानी बहु गुणी, मम गुरुणी विख्यात।
सर्वसती महँ मोटकी[3], चम्पाजी सुख्यात ॥१०७॥
तच्छिष्या भुरसुन्दरां, आतम हित के काज।
नगर भरतपुरमहँ रची, कका बतीसी आज ॥१०८॥
सज्जन सोही जानिये, सह[4] दुर्जन के बैन।
दुर्जन वोही जानिये, कडुए बोलै बैन ॥१०९॥
सम परिणामहिं धारलो, विषमपना से दूर।
हृदय तराजू तौल लो, त्रस थावर इकनूर ॥११०॥
ना काहू से राग है, ना काहू तें द्वेष।
ना काहू तें ईर्षा, यह सम्यक्त्व सुवेष ॥१११॥
मन सँवेग धारहु सदा, मनोवेग[5] कर दूर।
जन्म मरण से छूटि कर, पाओ सुख भरपूर ॥११२॥
शान्त[6], दान्त[7], जो पुरुष है, समता रस में पूर[8]।
सावद्[9] छोड़त करत नित, वह उद्यम भरपूर ॥११३॥
अनुकम्पा मन महँ वसत, ज्ञानी के नित जान।
ज्ञानी पूरा है वही, समुझै आप समान ॥११४॥
राखो जिनवर-आसथा[10], मनशङ्का मत लाव।
जिनवाणी अनुसरण करि, करो शुद्ध निज भाव ॥११५॥

१—तालाव को। २—भौंरे। ३—वड़ी। ४—सहता है। ५—मन के वेग को। ६—शान्ति से युक्त। ७—दम से युक्त। ८—पूर्ण। ९—सावद्य। १०—श्रद्धा।

भवतारक[1] जिनराज हैं, तासु[2] भजन तुव[3] काम।
तासु भजन जो करत है, पावत है सुख धाम[4] ॥११६॥
भाव सत्य से होत है, भजनहुँ समुझौ बात।
शास्त्रकथित विधि नियम से, करहु भाव शुभतात[5]॥११७॥

॥ इति तृतीय. परिच्छेदः ॥

१—ससार से पार करने वाला। २—उनका। ३—तुम्हारा। ४—सुख स्थान। ५—हे प्रिय!।

चतुर्थः परिच्छेदः ।

१–साधु-धर्म ।
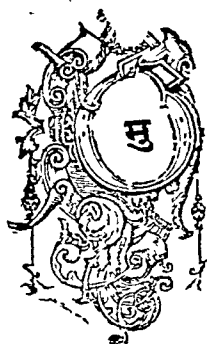
नि, श्रमण, वाचंयमी, व्रती, यति, तपस्वी, सर्वविरति, संयत, भिक्षु तथा अनगार, इत्यादि अनेक नाम साधु के हैं, मननशीलन होने के कारण उसे मुनि कहते हैं, तप में परिश्रम करने के कारण उसे श्रमण कहते[1] हैं, वागूयोग को स्वाधीन रखने के कारण उसे वाचंयमी कहते हैं, महाव्रतों का पालन करने से उसे व्रती कहते हैं, मन और इन्द्रियों का दमन करने से उसे यति कहते हैं। बारह प्रकार के तपोविधान में निष्ठ होने से उसे तपस्वी कहते हैं, सर्व पदार्थों से विरक्त होने के कारण उसे सर्वविरति कहते हैं, सत्रह प्रकार के संयम का पालन करने से उसे संयत कहते हैं, निर्दोष भिक्षा प्राप्ति के द्वारा निर्वाह करने से उसे भिक्षु कहते हैं तथा गृह का परित्याग करने से उसे अनगार कहते हैं, इसी प्रकार साधु के जो और पर्यायवाचक[2] शब्द है उनका अर्थ भी यथायोग जान लेना चाहिये।

(प्रश्न) साधु एक शब्द का क्या अर्थ है तथा उस के कौन २ से लक्षण हैं?

(उत्तर) साधु शब्द का साधारणतया यह अर्थ है कि जो आप सर्व प्रकार के क्लेशों का सहन कर के भी दूसरे के कार्यों को सिद्ध

१—कहा भी है कि–यः समः सर्वभूतेषु त्रसेषु स्थावरेषु च। तपश्चरति शुद्धात्मा श्रमणोऽसौ प्रकीर्तितः ॥१॥ अर्थात् जो त्रस और स्थावर सब प्राणियो में सम रह कर तथा शुद्धात्मा होकर तप करता है उसे श्रमण कहते है। २–एकार्थ वाची।

करता है उसे साधु कहते हैं। अथवा जो ज्ञानादि रूप शक्ति के द्वारा मोक्ष का साधन करते हैं उनको साधु कहते[1] हैं, अथवा जो सब प्राणियों पर समता का ध्यान रखते हैं उनको साधु कहते[2] हैं अथवा जो ८४ लाख जीव योनिमें उत्पन्न हुए समस्त जीवों के साथ समत्व को रखते हैं उन को साधु कहते हैं, अथवा जो सयम के सत्रह भेदों का धारण करते हैं उन को साधु कहते[3] हैं, अथवा जो असहायों के सहायक होकर तपश्चर्या आदि में सहायता देते हैं उन को साधु कहते[4] हैं अथवा जो सयमकारीजनों[5] की सहायता करते हैं उनको साधु कहते हैं।

इस विषय को सक्षेप में इस प्रकार जान लेना चाहिये कि जो बयालीस दोषों से रहित विशुद्ध आहार का ग्रहण कर अपनी शरीर-यात्रा का निर्वाह करता है, सब इन्द्रियों को अपने वश में रखता है,

---

१—ज्ञानादि शक्त्या मोक्षसाधयन्तीति साधव ।

२—"समत्व ध्यायन्तीति साधव" इति निरुक्तकाराः। ३—कहा भी है कि—"विसयसुह नियत्ताण विसुद्धचारित नियम जुत्ताण। तच्चगुण साहयाणं साहूण किच्चुज्जायण नमो" ॥ १ ॥

अर्थात जो विषयों के सुख से निवृत्त हैं, विशुद्ध चारित्र के नियम से युक्त हैं, सत्य गुणों के साधक हैं तथा मोक्ष-साधन के लिये उद्यत हैं उन साधुओं को नमस्कार हो।

अन्यत्र भी कहा है कि—"निव्वाणसाहए जोए जम्हा साहति साहुणो। समा य सव्वभूएसु तम्हाते भावसाहुणो" ॥ १ ॥

अर्थात् जिस लिये साधुजन निर्वाण-साधन को जानकर उस का साधन करते हैं तथा सब प्राणियों पर सम रहते हैं इसलिये वे भाव साधु कहे जाते हैं।

४—कहा भी है कि—"असहाइ सहायत्त करेंति मे सजम करेंतस्स। एएण कारणेण णमामि हं सव्वसाहूण" ॥ १ ॥

अर्थात् संयम करते हुए मुझ असहाय की सहायता साधु ही करते हैं अतः मैं सब साधुओं को नमस्कार करता हूं। ५—संयम करने वाले।

अर्थात् इन्द्रियों के विपयों में प्रवृत्ति नहीं करता है, पट् काय जीवों की स्वयं रक्षा करता है तथा दूसरों से कराता है, सत्रह भेद विशिष्ट संयम का आराधन[१] करता है, सब जीवों पर दया का परिणाम रखता है, अठारह सहस्र शीलाङ्ग रूप रथ का वाहक होता है, अचल[२] आचार का परिपेवन करता है, नौ प्रकार से ब्रह्मचर्य गुप्ति का पालन करता है, बारह प्रकार के तप में पौरुष दिखलाता है, आत्मा के कल्याण का सदैव ध्यान रखता है, आदेश[३] और उपदेश से पृथक् रहता है तथा जनसङ्गम,[४] वन्दन[५] और पूजन[६] की कामना[७] से पृथक् रहता है, उस को साधु कहते हैं।

जैन शास्त्र से भिन्न अन्य मत के अनुसार भी साधुओं का लक्षण कहा जाता है, देखो-गरुड़ पुराण में साधु के विषय में कहा है कि—

न प्रहृष्यति सम्माने नावमानेन क्रुध्यति ।
न क्रुद्धः परुषंब्रूया देतत्साधोस्तु लक्षणम् ॥१॥

अर्थात् जो सन्मान करने पर प्रसन्न नहीं होता है तथा अपमान करने पर क्रुद्ध नहीं होता है तथा क्रुद्ध होकर कभी कठोर वचन नहीं बोलता है, यही साधु का लक्षण है ॥ १ ॥

वह्नि पुराण में साधु स्वभाव के विषय मे कहा है—

त्यक्तात्मसुखभोगेच्छाः सर्वसत्त्वसुखैषिणः ।
भवन्ति पर दुःखेन साधवो नित्य दुःखिताः ॥१॥
पर दुःखातुरानित्यं स्वसुखानि महान्त्यपि ।
नापेक्षन्ते महात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥२॥
परार्थमुद्यताः सन्तः सन्तः किं किं न कुर्वते ।
तादृगप्यम्बुधेर्वादि जलदैस्तत् प्रपीयते ॥३॥

१—सेवन । २—स्थिर । ३—आज्ञा । ४—मनुष्यों से मेलजोल । ५—नमस्कार । ६—सत्कार । ७—इच्छा ।

एक एव सतां मार्गो यदङ्गीकृत पालनम् ।
दग्धन्तमकरोत् क्रोडे पावक यदपाम्पतिः ॥४॥
आत्मन पीडयित्वापि साधुः सुखयते परम् ।
ह्लादयन्नाश्रितान् वृक्षो दुःखञ्च सहते स्वयम् ॥५॥

अर्थात्—जिन्होंने अपने सुख भोग और इच्छा का परित्याग कर दिया है तथा सर्व प्राणियों के सुख के जो अभिलाषी रहते हैं ऐसे साधुजन दूसरे के दु ख से सदा दु खी रहते हैं (अर्थात् दूसरों के दु ख को नहीं देख सकते हैं) ॥१॥ सदा दूसरे के दुःख से आतुर रहते हैं तथा अपने बड़े सुखों की भी अभिलाषा नहीं करते हैं और सब प्राणियों के हित में तत्पर रहते हैं वे ही महात्मा हैं ॥२॥ साधुजन परकार्य के लिये उद्यत होकर क्या २ नहीं करते हैं, देखो ! मेघ समुद्र के वैसे (खारी) भी जल को (पर-कार्य के लिये) पी लेते हैं ॥३॥ साधु जनों का एक यही मार्ग है कि वे अङ्गीकृत[1] का पालन करते हैं, देखो ! समुद्र ने प्रज्वलित अग्नि को गोद में धारण कर रक्खा है ॥४॥ साधु पुरुष अपने को पीड़ित कर के भी दूसरे को सुखी करता है, देखो ! वृक्ष स्वय दुःख को सहता है तथा दूसरों को आह्लाद[2] देता है ॥५॥

इस के अतिरिक्त अनेक ग्रन्थों में साधुओं के लक्षणों का वर्णन किया गया है, अब यहा पर विस्तार के भय से इस विषय का विशेष उल्लेख नहीं किया जाता है ।

(प्रश्न) अब कृपा कर के साधु धर्म का वर्णन कीजिये ।

(उत्तर) अच्छी बात है सुनो—यह तो तुम्हें भली भाति से ज्ञात ही है कि श्री जिन भगवान् प्रणीत धर्म सर्वोत्तम है इसलिये तदनुसार ही साधुओं के धर्म का वर्णन किया जाता है ।

(प्रश्न) जिन किस को कहते हैं तथा जिनप्रणीत धर्म श्रेष्ठ क्यों है ?

१—स्वीकार किये हुए । २—आनन्द ।

(उत्तर) "जि जये" इस धातु से नक् प्रत्यय करने पर "जिन" शब्द की सिद्धि होती है, इस का अर्थ यह है कि जिन्होंने इन्द्रियों, तद्विषयों, कषायों तथा संसार के बीज रूप राग द्वेषादि को जीत लिया है उन को जिन कहते हैं, जिन भगवान्-वीतराग सर्वज्ञ, सर्वदर्शी तथा निष्पक्षपात होते हैं; इसलिये उन का कहा हुआ ही धर्म[1] सर्वोत्तम माना जाता है, इसी को जैन धर्म भी कहते हैं।

(प्रश्न) जैन मत में धर्म का क्या लक्षण माना गया है ?

(उत्तर) जैन मतानुसार धर्म का लक्षण प्रथम परिच्छेद के चौथे पाठ में (धर्माधर्म विवेचन में) श्रीदशवैकालिक सूत्र की प्रथम गाथा का प्रमाण देकर बतला दिया गया है। अहिंसा[2] संयम[3] और तपोरूप[4] धर्म है, पूर्वोक्त धर्म दो प्रकार का है—आगार धर्म अर्थात् श्रावक धर्म तथा अनगार धर्म अर्थात् साधु धर्म।

१—"धृञ् धारणे" इस धातु से "धर्म" शब्द बनता है, इसलिये यह समझना चाहिये कि जो आत्मा में धारण किया जाता है, अथवा जो जन्तुओं को दुर्गति से हटाकर उन्हें शुभ स्थान में रखता है, उसे धर्म कहते है, किन्हीं आचार्यों ने "दुधाञ् धारण पोषणयोः" इस धातु से "धर्म" शब्द की सिद्धि मानी है, इस पक्ष में भी धारण की अपेक्षा से धर्म शब्द का पूर्वोक्त ही अर्थ जानना चाहिये तथा पोषण की अपेक्षा से धर्म शब्द का यह अर्थ जानना चाहिये कि जो आत्मा का पोषण करता है अर्थात् ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप साधन से आत्मा का पोषण कर कर्मों के साथ उस का वियोग कर परमानन्द की प्राप्ति कराता है, उस को धर्म कहते हैं।

२—प्राणों का वियोग न करना, प्राणिमात्र को दुःख न देना तथा सब प्राणियों को सुख पहुँचाना, इसका नाम अहिंसा है।

३—सम् पूर्वक "यम् उपरमे", इस धातु से संयम शब्द बनता है, इसका अर्थ यह है कि इन्द्रियों के विषयों से निवृत्त होना अर्थात् विषय विकारों को रोकना। ४—तप बारह प्रकार है, इसके भेदों का विवरण पहिले किया जा

(प्रश्न) कृपाकर के श्रावक धर्म और साधु धर्म का वर्णन कीजिये ?

(उत्तर) सामायिक रूप आवश्यक कर्त्तव्य दोनों का समान धर्म है, इसलिये तुम्हारे विज्ञान के लिये सब से प्रथम यहां पर सामायिक विधि लिखी जाती है, इस के पश्चात दोनों के पृथक् २ धर्म का कुछ वर्णन किया जावेगा ।

१—नमस्कार सूत्र—णमोअरिहंताणं ॥ णमो सिद्धाणं ॥
णमोआयरियाणं ॥ णमो उवज्झायाणं ॥
णमो लोए सव्वसाहूणं ॥ एसो पंच णमुक्कारो ॥
सव्वपावप्पणासणो ॥ मंगलाणं च सव्वेसिं ॥
पढमं हवइ मंगलं ॥ १ ॥

अर्थ—श्री अरिहन्त भगवान् को नमस्कार हो, श्रीसिद्ध भगवान् को नमस्कार हो, श्री आचार्य महाराज को नमस्कार हो, श्री उपाध्याय जी महाराज को नमस्कार हो, लोक (ढाई द्वीप) में वर्त्तमान सर्व साधु (मुनिराजों) को नमस्कार हो, (अर्थात् इन पांचों परमेष्ठियों को मेरा नमस्कार हो,) उक्त पांचों परमेष्ठियों को जो नमस्कार किया जाता है वह सम्पूर्ण पापों का नाश करने वाला है और सब प्रकार के (लौकिक और लोकोत्तर) मंगलों में प्रधान मंगल है[१] ॥१॥

चुका है, इसके फल के विषय में श्री भगवतीजी में यह उल्लेख है कि—तुंगियापुर के श्रावकों ने श्रीपार्श्वनाथ के सन्तानियों से पूछा कि हे स्वामिन् ! 'तवेणं किं फले" अर्थात् तप से क्या फल होता है तब उन्होंने उत्तर दिया कि "वोदाणफले" अर्थात् तप का फल कर्मों का क्षीण होना है कर्मों के क्षीण होने से अनन्त आत्मशक्ति उत्पन्न हो जाती है तप के द्वारा निर्जरा होने से जीवात्मा जन्म मरण से रहित होकर परमानन्द रूप सुख को प्राप्त होता है ।

१—श्रीनवकार मन्त्र की विशेष व्याख्या इसी परिच्छेद के चौथे पाठ में की जावेगी ।

२—गुरुवन्दना (तिक्खुत्तो का पाठ)—तिक्खुत्तो आया हिणं पया हिणं (करेमि), वन्दामि, नमंसामि, सक्कारेमि, सम्माणेमि, कल्लाणं, मंगलं, देवयं,चेइयं, पज्जुवासामि ॥२॥

अर्थात्—तीनवार दोनों हाथों को जोड़ कर दहिने कान से बायें कान तक प्रदक्षिणा करके अर्थात् तीनवार जोड़े हुए हाथों को मुख के चारों ओर घुमा कर मैं गुणग्राम (स्तुति) करता हूं, पाँचों अङ्गों को (दोनों हाथो दोनों गोड़ों और मस्तक को नमा कर) नमस्कार करता हूं, हे पूज्य ! आपका सत्कार करता हूं, आपको सम्मान देता हूं, आप कल्याण रूप हैं, मङ्गल रूप हैं, आप धर्म-देव स्वरूप हैं, ज्ञानवान हैं, षट्काय जीवों के रक्षक हैं, इस प्रकार के आप गुरुमहाराज की मन, वचन और काय से सेवा करता हूं तथा मस्तक नमा कर वन्दना करता हूं ॥२॥

इस प्रकार श्री नमस्कार सूत्र का उच्चारण कर तथा गुरुवन्दना करके नीचे लिखे हुए "इरियावहियं" इत्यादि पाठ को बोलना चाहिये:—

३—इरियावहियं सूत्रम्—इच्छाकारेण संदिसह भगवन् ! इरियावहियं पडिक्कमामि, इच्छं । इच्छामि पडिक्कमिउं, इरियावहियाए विराहणाए, गमणागमणे, पाणक्कमणे, बीयक्कमणे, हरियक्कमणे, ओसाउत्तिंग पणग दग मट्टी मक्कड़ा सन्ताणा संकमणे जे मे जीवा विराहिया एगिंदिया, बेइंदिया, तेइंदिया, चउरिंदिया, पंचिंदिया, अभिहया, वत्तिया, लेसिया, संघाइया, संघट्टिया, परियाविया, किलामिया, उद्दविया, ठाणाओ ठाणं संकामिया जीवियाओ ववरोविया, तस्स मिच्छामि दुक्कडं ॥ ३ ॥

हे गुरुजी महाराज ! अपनी इच्छा पूर्वक आज्ञा दीजिये—मार्ग पर चलने फिरने आदि से जो विराधना होती है उस से अथवा उससे लगने वाले अतिचार से मैं निवृत्त होना चाहता हूँ अर्थात्

भविष्यत् में इस प्रकार की विराधना न हो इस विषय में सावधानी रख कर उससे बचना चाहता हू।

तब गुरुमहाराज यह कहें कि—"हे शिष्य! सावद्य क्रिया से तुम शीघ्र ही निवृत्त हो" तब शिष्य कहे कि—आपकी आज्ञा प्रमाण है और मेरी भी यही इच्छा है, मार्ग में गमनागमन (जाते आते) समय में मैंने भूत काल में किसी के इन्द्रिय आदि प्राणों को दबाकर, सचित्त बीज तथा हरी वनस्पति को कुचर कर, ओस चींटी के बिल पाँचों वर्ण की काई, सचित्त जल, सचित्त मिट्टी और मकडी के जालों को रौंद कर (कुचल कर) किसी जीव की हिंसा की हो, जैसे एकेन्द्रिय वाले (पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति) दो इन्द्रियों वाले (शङ्ख, छीप और गडोला आदि)। तीनइन्द्रियों वाले (कुथुआ, जू, लीख, कीड़ी, खटमल और चींचड़ आदि) चार इन्द्रियों वाले (मक्खी, भौंरा, बीछू, टीड़ी, और पतङ्ग आदि) तथा पाँच इन्द्रियों वाले (मनुष्य, तिर्यञ्च, जलचर, थलचर और खेचर आदि) जीवों को मैंने चोट पहुचाई हो, उन्हें धूल आदि से ढाका हो, पृथिवी पर वा आपस मे रगड़ा हो, इकट्ठा करके उनका ढेर किया हो, उन्हें क्लेशजनक प्रकार से छुआ हो, उन्हें क्लेश पहुचाया हो, थकाया हो, हैरान किया हो, उन्हें एक जगह से दूसरी जगह बुरी तरह से रक्खा हो, इस प्रकार किसी रीति से भी उनका जीवन नष्ट किया हो, उसका पाप मेरे लिये निष्फल हो, अर्थात् ज्ञान दशा में अथवा अज्ञान दशा में विराधना आदि से कषायों के द्वारा जो पाप कर्म मैंने बाँधा हो, उसके लिये मैं हृदय से पश्चात्ताप करता हू कि जिससे कोमल परिणाम के द्वारा पाप कर्म निरस हो जावे और मुझको उसका फल न भोगना पड़े ॥ ३ ॥

इसके पश्चात् "तस्स उत्तरी" इत्यादि पाठ को बोलना चाहिये —

४—(तस्स उत्तरी सूत्रम्)—तस्स उत्तरी करणेण पायच्छित्तकरणेण, विसोहीकरणेण, विसल्ली करणेण,

पावाणं कम्माणं, निग्घायणट्ठाए ठामि काउस्सग्गं, अन्नत्थ ऊससिएणं, नीससिएणं, खासिएणं, छीएणं, जंभाइएणं, उड्डुएणं, वायनिसग्गेणं, भमलिए, पित्त-मुच्छाए, सुहुमेहिं अंगसंचालेहिं, सुहुमेहिं खेलसंचा-लेहिं, सुहुमेहिं दिट्ठिसंचालेहिं, एवमाइएहिं, आगारेहिं अभग्गो, अविराहिओ हुज्ज मे काउस्सग्गो, जाव अरिहंताणं, भगवंताणं णमुक्कारेणं न पारेमि, ताव कायं ठाणेणं मोणेणं झाणेणं अप्पाणं वोसिरामि ॥ ४ ॥

अर्थ—ईर्यापथिक क्रिया से पाप-मल लगने के कारण मलीन हुआ हूं, इसकी शुद्धि मैंने "मिच्छामि दुक्कड़" के द्वारा की है तथापि परिणाम के पूर्णतया शुद्ध न होने के कारण वह यदि अधिक निर्मल न हुआ हो तो उसको अधिक निर्मल करने के लिये उस पर वारंवार शुभ संस्कार डालना आवश्यक है, इस के लिये प्रायश्चित्त करने की आव-श्यकता है, प्रायश्चित्त भी परिणाम की विशुद्धि के विना नहीं होसकता है, इसलिये परिणाम विशुद्धि की आवश्यकता है, परिणाम की विशुद्धि के लिये शल्य-माया, निदान (नियाण) और मिथ्यात्त्व, इन शल्यों का त्याग करना आवश्यक है, शल्यों का त्याग तथा अन्य भी सब पाप कर्मों का नाश काउस्सग्ग से ही हो सकता है, इसलिये मैं काउस्सग्ग करता हूं, कुछ आगारों का कथन तथा काउस्सग्ग के अखण्डित होने की अभिलाषा-श्वास का लेना तथा निकालना, खांसना, छींकना, जम्भाई लेना, डकार का आना, अपानवायु का निकलना, शिर आदि का घूमना, पित्तविकार से मूर्च्छा का होना, अंग का सूक्ष्म हिलना चलना, कफ, थूक आदि का सूक्ष्म रीत्या झरना तथा दृष्टि का सूक्ष्म संचलन, ये तथा इनके सदृश अन्य क्रियाएँ जो स्वयमेव हुआ करती हैं और जिनके रोकने से अशान्ति का सम्भव है, उनके होते रहने पर भी काउस्सग्ग अभङ्ग ही है, परन्तु इन के अतिरिक्त अन्य क्रियाएँ (जो

स्वयमेव नहीं होती हैं तथा जिन का रोकना इच्छा के आधीन है) हैं उनसे मेरा कायोत्सर्ग अप्रतिहत रहे (अर्थात् अपवादभूत क्रियाओं के सिवाय अन्य कोई भी क्रिया मुझमें न हो और इससे मेरा काउस्सग्ग सर्वथा अभग्न रहे, यह मेरी अभिलाषा है, (काउस्सग्ग काल परिमाण तथा उसकी प्रतिज्ञा) में अरिहन्त भगवान् को "णमो अरिहंताणं", इस वाक्य के द्वारा नमस्कार करके जब तक काउस्सग्ग को पूर्ण न करलूँ तब तक शरीर से निश्चल रह कर, वचन से मौन रह कर तथा मन से शुभ ध्यान रख कर पापकारी सब कार्यों से हट जाता हूँ अर्थात् कायोत्सर्ग करता हूँ ॥४॥

इसके पीछे "लोगस्स" इत्यादि निम्नलिखित पाठ को बोलना चाहिये ।

५—(लोगस्स सूत्रम्)

लोगस्स उज्जोअगरे, धम्मतित्थयरे जिणे ।
अरिहन्ते कित्तइस्सं, चउवीसं पि केवली ॥१॥
उसभ मजिअं च वंदे, संभवमभिणंदणं च सुमइं च ।
पउमप्पहं सुपासं, जिणं च चंदप्पहं वंदे ॥२॥
सुविहिं च पुप्फदंतं, सीअल सिज्जंस वासुपुज्जं च ।
विमल मणंतं च जिणं, धम्मं संतिं च वंदामि ॥३॥
कुंथुं अरं च मल्लिं, वंदे मुणिसुव्वयं नमिजिणं च ।
वंदामि रिट्ठनेमिं पासं तह वद्धमाणं च ॥४॥
एवमए अभिथुआ, विहुयरयमला पहीणजरमरणा ।
चउवीसं पि जिणवरा, तित्थयरा मे पसीयंतु ॥५॥
कित्तिय वंदियमहिया, जे ए लोगस्स उत्तमासिद्धा ।
आरुग्गबोहिलाभं, समाहिवरमुत्तमं दिंतु ॥६॥
चंदेसु निम्मलयरा, आइच्चेसु अहियं पयासयरा ।
सागरवरगम्भीरा, सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु ॥७॥

अर्थ—(तीर्थङ्करों के स्तवन की प्रतिज्ञा) स्वर्ग, मृत्यु और पातल, इन तीनों लोकों में धर्म का उद्द्योत करने वाले, धर्म-तीर्थ की स्थापना करने वाले तथा रागद्वेष आदि अन्तरङ्ग शत्रुओं पर विजय पाने वाले चौवीसों केवल ज्ञानी तीर्थङ्करों का मैं स्तवन करूँगा ॥१॥

(स्तवन)—श्री ऋषभनाथ, श्री अजितनाथ, श्री पद्मप्रभ, श्री सुपार्श्वनाथ, श्री चन्द्रप्रभ, श्री सुविधिनाथ, श्री शीतलनाथ, श्री श्रेयांसनाथ, श्री वासुपूज्य, श्री विमलनाथ, श्री अनन्तनाथ, श्री धर्मनाथ, श्री शान्तिनाथ, श्री कुन्थुनाथ, श्री अरनाथ, श्री मल्लिनाथ, श्री मुनिसुव्रत, श्री नमिनाथ, श्री अरिष्टनेमि (नेमनाथ), श्री पार्श्वनाथ, और श्री महावीर स्वामी इन चौवीस जिनेश्वरों की मैं स्तुति-वन्दना करता हूँ ॥२॥३॥४॥

(भगवान् से प्रार्थना) जिनकी मैंने स्तुति की है, जो कर्ममल से रहित हैं, जो जरा और मरण से मुक्त हैं तथा जो तीर्थों के प्रवर्त्तक हैं; वे चौवीसों जिनवर मुझ पर प्रसन्न हों ॥५॥ जिनका कीर्त्तन, वन्दन, और पूजन, नरेन्द्रों नागेन्द्रों तथा देवेन्द्रों तक ने किया है, जो सम्पूर्ण लोक में उत्तम हैं और जो सिद्धि को प्राप्त हुए हैं; वे भगवान् मुझको आरोग्य सम्यक्त्व तथा समाधि का श्रेष्ठ वर देवें ॥६॥ सिद्ध भगवान् जो सब चन्द्रों से विशेष निर्मल हैं, सब सूर्यों से विशेष प्रकाशमान हैं और स्वयम्भूरमण नामक, महा समुद्र के समान गम्भीर हैं; उनके आलम्बन से मुझको सिद्धि (मोक्ष) प्राप्त हो ॥७॥

इसके पीछे नीचे लिखे हुए "करेमि भंते" इत्यादि पाठ को बोलना चाहिये:—

६—(करेमिभंते)-करेमिभंते ! सामाइयं, सावज्जं जोगं पच्चक्खामि, जाव नियमं पज्जुवासामि, दुविहं तिविहेणं न करेमि, न कारवेमि, मणसा, वयसा, कायसा, तस्स भंते । पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि, अप्पाणं वोसिरामि ॥६॥

अर्थ—मैं सामायिक व्रत का ग्रहण करता हू, रागद्वेष का अभाव अथवा ज्ञान दर्शन और चारित्र का लाभ ही सामायिक है, इसलिये मैं पापयुक्त व्यापारों का परित्याग करता हूँ। जब तक मैं इस नियम का पालन करता रहूँ तब तक मन वचन और शरीर इन तीनों साधनों से पाप व्यापार को न तो स्वय करूगा और न दूसरों से कराऊँगा, हे स्वामिन् पूर्वकृत पाप से मैं निवृत्त होता हूँ, अपने हृदय में उसे बुरा समझता हू, और गुरू के सामने उसकी निन्दा और गर्हा करता हूँ, इस प्रकार से मैं अपने आत्मा को पापक्रिया से छुड़ाता हूँ ॥६॥

इसके पीछे नीचे लिखे हुए "नमुत्थुण" इत्यादि पाठको बोलना चाहिये —

७—(नमुत्थुण सूत्र)-नमुत्थुणं अरिहंताणं, भगवताणं, आइगराण, तित्थयराणं, सयसंबुद्धाणं, पुरिसुत्तमाणं, पुरिससीहाण, पुरिसवर पुडरीआणं, पुरिसवर गंधहत्थीणं, लोगुत्तमाणं, लोगनाहाणं, लोगहिआणं, लोगपईवाण लोगपज्जोअगराणं, अभयदयाण, चक्खुदयाणं, मग्गदयाणं, सरणदयाण, जीवदयाणं, बोहिदयाण, धम्मदयाण, धम्मदेसयाण, धम्मनायगाणं धम्म सारहीणं, धम्म वरचाउरतचक्कवट्टीणं, दीवोत्ताणं, सरणगइपइट्ठा अप्पडिहय वरनाणदसणधराण, विअट्ट छउमाण, जिणाणं, जावयाण, तिन्नाणं, तारयाण, बुद्धाण, बोहयाण, मुत्ताणं, मोअगाण, सव्वन्नूण, सव्वदरिसीण, सिव मयल मरुअ मणत मक्खयमव्वावाह, मपुणरावित्ति सिद्धिगइ नामधेय ठाण, सपत्ताण, नमो जिणाण, जियभयाण[1] ॥७॥

१—दूसरी बार नमुत्थुणं बोलने के समय "ठाणंसंपत्ताणं" के स्थान में 'ठाणं सपाविउ कामाणं" यह पाठ बोलना चाहिय।

अर्थ—अरिहन्तों को मेरा नमस्कार हो, जो (अरिहन्त भगवान्) धर्म की आदि करने वाले हैं, चतुर्विध तीर्थ की स्थापना करने वाले हैं, दूसरे के उपदेश के विना ही बोध को प्राप्त हुए हैं, सब पुरुषों में उत्तम हैं, पुरुषों में सिंह के समान (निर्भय) हैं, पुरुषों में कमल के समान (अलिप्त) हैं पुरुषों में प्रधान गन्ध हस्ती के समान (सहनशील) हैं, लोगों में उत्तम हैं, लोगों के नाथ हैं, लोगों के हित-कारक हैं, लोक में प्रदीप के समान प्रकाश करने वाले हैं, लोक में अज्ञानरूप अन्धकार का नाश करने वाले हैं, दुःखियों को अभयदान देने वाले हैं, अज्ञान से अन्धजनों को ज्ञान रूप नेत्र देने वाले हैं, मार्गभ्रष्ट को मार्ग दिखलाने वाले हैं, शरणागत को शरण देने वाले हैं सम्यक्त्व के देने वाले हैं, धर्महीन जनों को धर्मप्रदान करने वाले हैं, जिज्ञासु जनों को धर्म का उपदेश करने वाले हैं धर्म के नायक हैं, धर्म के सारथि (संचालक) हैं धर्म में श्रेष्ठ हैं तथा चक्रवर्त्ती के समान चतुरन्त हैं (अर्थात् जैसे चारों दिशाओं की विजय करने के कारण चक्रवर्त्ती चतुरन्त कहलाता है उसी प्रकार अरिहंत भी चार गतियों का अन्त करने के कारण चतुरन्त कहलाते हैं), सर्व पदार्थों के स्वरूप को प्रकाशित करने वाले श्रेष्ठ ज्ञान और दर्शन को अर्थात् केवल ज्ञान और केवल दर्शन को धारण करने वाले हैं चार घातिकर्मरूप आवरण से मुक्त हैं, स्वयं रागद्वेष को जीतने वाले और दूसरो को भी जिताने वाले हैं, स्वयं संसार के पार पहुँच चुके हैं और दूसरो को भी उसके पार पहुंचाने वाले हैं, स्वयं ज्ञान को प्राप्त हो चुके हैं तथा दूसरों को भी ज्ञान प्राप्त कराने वाले हैं स्वयं मुक्त हैं और दूसरों को भी मुक्ति प्राप्त कराने वाले हैं, आप सर्वज्ञ हैं, सर्वदर्शी हैं उपद्रवरहित, अचल (स्थिर), रोगरहित, अनन्त, अक्षय, व्याकुलता रहित पुनरागमन (जन्म-मरण) रहित मोक्ष स्थान को प्राप्त हैं वा ऐसे मोक्ष स्थान को प्राप्त होने वाले हैं, सब प्रकार के भयों को जीते हुए हैं ॥ ७ ॥

इस के पश्चात् सामायिक को पारना चाहिये, उस की पाटी निम्न-लिखित है —

८—(सामायिक पारने की पाटी)—एयस्स नवमस्स सामाइयवयस्स पच अइयारा जाणियव्वा, न समायरियव्वा, तजहा ते आलोउ मणदुप्पणिहाणे, वयदुप्पणिहाणे; कायदुप्पणिहाणे; सामाइयस्स सइ अकरणआए, सामाइयस्स अणवट्ठियस्स करणआए; तस्समिच्छामि दुक्कड़। सामाइय सम्म काएण न फासिय, न पालिअ न तीरिअ, न कीट्टिअ न, नसोहिअ, न आराहिय; आणाए अणुपालिअं न भवइ तस्स मिच्छामि दुक्कड॥ ८॥

सामायिक में दश मन के, दश वचन के तथा बारह शरीर के, इस प्रकार कुल बत्तीस दोषों में से यदि कोई दोष लगा हो तो "तस्स-मिच्छामि दुक्कड" सामायिक में स्त्रीकथा, भक्त-कथा, देश-कथा राज-कथा इन चारों कथाओं में से यदि कोई कथा की हो तो "तस्स मिच्छामि दुक्कड"।

सामायिक में आहारसज्ञा, भयसज्ञा, मैथुन सज्ञा तथा परिग्रह सज्ञा, इन चारों सज्ञाओं में से यदि किसी सज्ञा का सेवन किया हो तो "तस्समिच्छामि दुक्कड।

सामायिक में अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार, अनाचार सम्बन्धी कोई दोष यदि ज्ञात दशा में वा अज्ञात दशा में मन वचन वा शरीर से लगा हो तो "तस्समिच्छामि दुक्कड"।

सामायिक व्रत को विधि से लिया तथा विधि से पूर्ण किया, इस विधि में यदि कोई अविधि हुई हो तो "तस्समिच्छामि दुक्कड"।

सामायिक का पाठ बोलने में यदि किसी मात्रा, अनुस्वार, पद, अक्षर, ह्रस्व और दीर्घ आदि का न्यूनाधिक वा विपरीत उच्चारण हो

गया हो तो अनन्त सिद्ध केवली भगवान् की साक्षी से "तस्सभिच्छामि दुक्कडं" ।

प्राकृत भावार्थ—श्रावक के वारह व्रतों में से नवें सामायिक व्रत के पांच अतिचार हैं—वे जानने के योग्य हैं परन्तु ग्रहण करने के योग्य नहीं हैं। उन अतिचारों की आलोचना करता हूं, जैसे कि—मन में बुरा चिन्तन किया हो, अर्थात् मन के दृश दोष लगाये हों, दूसरा वचन का दुरुपयोग किया हो, अर्थात् वचन के दृश दोष लगाये हों, तीसरा शरीर खोटे मार्ग में प्रवृत्त हुआ हो अर्थात् शरीर के बारह दोष लगाये हों सामायिक लेकर अधूरा पारा हो, वा शक्ति होने पर सामायिक न किया हो, सामायिक को अनवस्थित रीति से अर्थात् शास्त्र की मर्यादा को छोड़ कर किया हो, इन पाँचों अतिचारों का पाप मेरे लिये मिथ्या हो, शरीर से सामायिक को सम्यक् प्रकार से किया नहीं, पाला नहीं, उसे समाप्त नहीं किया, उसका कीर्तन नहीं किया, उसे शुद्ध नहीं किया, उसका आराधन नहीं किया तथा श्री वीतराग भगवान् की आज्ञा के अनुसार उसका पालन आदि न हुआ हो तो उसका पाप मेरे लिये मिथ्या हो ॥ ८ ॥

प्रश्न—सामायिक में मन के दश, वचन के दश तथा शरीर के बारह, इस प्रकार कुल बत्तीस दोष बतलाये गये हैं, कृपा कर के इन बत्तीस दोषों का वर्णन कीजिये।

उत्तर—ठीक है, सुनो मन के दश दोश यह हैं:—

अविवेक जसो कित्ती लाभत्थी गव्व भय नियाणत्थी ।
संसय रोस अविणउ अबहुमाणं ए दोसा भणियव्वा ॥१

१—विवेक के बिना सामायिक करना यह अविवेक दोष है।

२—यश और कीर्ति के लिये सामायिक करना यह यशोवाञ्छा दोष है।

३—धनादि के लाभ की इच्छा से सामायिक करना यह लाभ वाञ्छा दोष है।

४—अहङ्कार के साथ सामायिक करना, यह गर्व दोष है।

५—राज्य आदि के अपराध के भय से सामायिक करना यह भय दोष है।

६—सामायिक में नियाणे का करना, यह निदान दोष है।

७—फल के विषय में सन्देह को रख कर सामायिक करना, यह संशय दोष है।

८—सामायिक में क्रोध, मान, माया और लोभ का करना, यह रोष दोष है।

९—सामायिक को विनय पूर्वक न करना तथा सामायिक में देव गुरु और धर्म का अविनय वा असातना करना यह अविनय दोष है।

१०—बहुमान और भक्तिभाव पूर्वक सामायिक को न कर के वेगार के समान सामायिक करना, यह अबहुमान दोष है।

वचन के दश दोष ये हैं —

कुवयण सहसाकारे सच्छंद संखेव कलह च।
विगहा विहासोऽसुद्ध निरवेक्खो मुणमुणा दोषादस॥१॥

१—सामायिक में कुत्सित वचन का बोलना, यह कुवचन दोष है।

२—सामायिक में बिना विचारे बोलना, यह सहसाकार दोष है।

३—सामायिक में गीत ख्याल आदि राग को उत्पन्न करने वाले संसार सम्बन्धी गान का करना, यह स्वच्छन्द दोष है।

४—सामायिक के पाठ और वाक्य को लघुरूप में करके बोलना, यह संक्षेप दोष है।

५—सामायिक में क्लेशकारी वचन का बोलना, यह कलह दोष है।

६—सामायिक में राजकथा, देशकथा, स्त्रीकथा, भोजन कथा, इन चारों कथाओं में से किसी कथा का करना, यह विकथा दोष है।

७—सामायिक में हास्य (हंसी, मसकरी, और ठट्ठा) का करना, यह हास्य दोष है।

८—सामायिक में गड़बड़ करके शीघ्रता पूर्वक बोलना, उपयोग के विना अशुद्ध बोलना वा पढ़ना, यह अशुद्ध दोष[1] है।

९—उपयोग के विना सामायिक का बोलना, निरपेक्षा दोष है।

१०—स्पष्ट उच्चारण न करके मुणमुण करके सामायिक का बोलना, यह मुणमुण दोष है।

शरीर के वारह दोष ये हैं:—

कुआसणं चलासणं चलदिट्ठी सावज्जकिरिया-लम्बणा कुंचण पसारणं ॥ आलस्स मोडणमल विमा-सणं निद्दा वेआवच्चत्ति वारस कायदोसा ॥ १ ॥

१—सामायिक में अयोग्य आसन से वैठना, यह कुआसन दोष है।

२—सायायिक में आसन को स्थिर न रखना, यह चलासन दोष है।

३—सामायिक में दृष्टि को स्थिर न रखना, यह चलदृष्टि दोष है।

४—सामायिक में शरीर से कुछ सावद्य क्रिया का करना,[2] यह सावद्य क्रिया दोष है।

५—सामायिक मे भीत (दीवार) आदि का सहारा लेना, यह आलम्वन दोष है।

६—सामायिक में प्रयोजन के विना हाथ पैर को सिकोड़ना वा पसारना, यह आकुञ्चन प्रसारण दोष है।

१—कोई लोग सामायिक समय में अव्रती को सत्कार देने को तथा उससे भाषण करने को अशुद्ध दोष मानते हैं।

२—जैसे घरकी रखवाली करना, वा शरीर से इशारा आदि करना।

७—सामायिक में अङ्ग का मरोडना आदि आलस्य दोष है।

८—सामायिक में हाथ पैर को चटकाना (कड़का निकालना,) यह मोटन दोष है।

९—सामायिक में मैल का उतारना, यह मल दोष है।

१०—गले में अथवा कपोल (गाल) में हाथ लगाकर शोकातुर के समान सामायिक में बैठना, यह विमासण दोष[1] है।

११—सामायिक में निद्रा का लेना, यह निद्रा दोष है।

१२—सामायिक में बिना कारण दूसरे से वैयावृत्त्य का कराना, यह वैयावृत्त्य दोष है।

प्रश्न—अब कृपा करके श्रावक धर्म का वर्णन कीजिये।

उत्तर—बारह प्रकार के अणु व्रतों का पालन करना श्रावक धर्म है जैसा कि दूसरे परिच्छेद के पाँचवें पाठ (गार्हस्थ धर्म) में लिखा जा चुका है यहाँ पर इस विषय के उल्लेख की आवश्यकता नहीं है क्योंकि श्रावक के बारह अणु व्रत प्रसिद्ध ही हैं।

प्रश्न—ठीक है, कृपा कर के अब साधु धर्म का तो वर्णन कीजिये।

उत्तर—हा साधु धर्म का वर्णन यहा पर सक्षेप से किया जाता है, ध्यान देकर सुनो —

साधु धर्म दश प्रकार का कहा गया है—क्षमा, निर्लोभ, आर्जव, मार्दव, लघुभाव,[2] सत्य, सयम, तप, त्याग, और ब्रह्मचर्य।

१—न जाने इसको 'विमासण' दोष क्यों कहा गया है, यदि 'विमानस" दोष कहा जाता तो भी ठीक था, क्योंकि 'विमानस' वा "विमना' उदास वा शोकातुर को कहते हैं, सम्भव है कि मकार और णकार लिखने में अदल बदल हो गया हो। (सशोधक)

२—किन्हीं २ ग्रन्थों में लघुभाव के स्थान में 'शौच" शब्द है, यहा द्रव्य शौच और भाव शौच को जानना चाहिये। शरीर के अवयवों को पवित्र

१—साधु का प्रथम धर्म क्षमा है, शास्त्रकारों का कथन है कि "क्षमा समं तपो नास्ति" अर्थात् क्षमा के समान कोई तप[1] नही है, जो साधु इस प्रथम धर्म क्षमा का धारण नही करता है उसके लिये अन्य धर्मों का सेवन करना भी व्यर्थ रूप है, खेद का विषय है कि इस दुःषम पञ्चम काल में प्रायः चारों तीर्थ द्रव्य-रूप मे विद्यमानवत्, प्रतीत होते हैं, किन्तु चारों तीर्थों का जो सच्चा भाव (सत्यसाधुता वा सत्यश्रमणोपासकत्त्व) है उसका अभाव सा ज्ञात होता है, जैसे कि चार निक्षेप हैं उनमें से भावनिक्षेप के विना शेष तीन निक्षेप शून्य के तुल्य[2] हैं. श्रीसर्वज्ञ प्रणीत स्याद्वादमत में निश्चय और व्यवहार, ये दोनों नय माने गये हैं, इनमे से केवल एक के मानने पर मिथ्या दोष होता है तथा दोनों के मानने पर पूर्वोक्त दोष नही होता है, अतः दोनों ही शुद्ध होने चाहियें, देखो ! व्यवहार के शुद्ध होने पर भी निश्चय के शुद्ध न होने पर आत्मा कदापि कृतार्थ नहीं हो सकता है, कहने का तात्पर्य यह है कि क्षमा शब्द का जो वास्तविक वाच्य वर्त्ताव है उसका यथार्थ रीति से सेवन करने से प्रथम धर्म का पालन हो सकता है, ग्रन्थ के विस्तार के भय से प्रथम धर्म के विषय में इतना ही लिख कर उसकी समाप्ति की जाती है।

२—दूसरा मुनिधर्म निर्लोभ[3] (लोभ का अभाव) है, सत्य पूछो तो यह अति दुष्कर धर्म है, क्योंकि लोभ का वेग दशवें गुणस्थानक तक रहता है, इसीलिये मूर्च्छा (आसक्ति) का जीतना अति कठिन

रखना तथा निर्दोष आहार का लेना द्रव्य शौच कहा जाता है तथा कषायादि के परित्याग के द्वारा शुद्ध अध्यवसाय परिणाम को भाव शौच कहते हैं।

१—अन्यत्र भी कहा है कि "क्षमा खड्गं करे यस्य दुर्जनः किं करिष्यति" अर्थात् जिसके हाथ में क्षमारूपी खड्ग है उसका कोई दुर्जन क्या कर सकता है।

२—ऐसे हैं जैसे कि अंक के विना शून्य व्यर्थ होते हैं। ३—इसको ग्रन्थों में "मुक्ति" के नाम से भी कहा गया है।

है, शास्त्रकारों ने लोभ को पाप का उपादान कारण बतलाया है, देखो श्रीदशवैकालिक के अष्टम अध्ययन की ३७वी गाथा यह है कि —

कोहो पीइं पणासेई माणो विणयणासणो ।
माया मित्ताणि नासेई लोभो सव्वविणासणो ॥१॥

अर्थात् क्रोध प्रीति का नाश करता है, मान विनय का नाश करता है, माया मित्रता का नाश करती है तथा लोभ सबका नाश करता है ॥१॥

लोभ से ही बज्रपाप का बन्धन होता है, कषायों में से एक प्रधान कषाय लोभ है, इसलिये इसका त्याग करने से परमपद की प्राप्ति होती है।

(प्रश्न) कषाय शब्द का क्या अर्थ है ?

(उत्तर) कषाय शब्द का अर्थ पहिले लिखा जा चुका है कि कष नाम संसार का है[1], उस संसार की प्राप्ति जिसके द्वारा होती है उसको कषाय कहते हैं[2], किञ्च "कष् गतिशासनयो" इस धातु से कषाय शब्द की सिद्धि होती है इसलिये कषाय शब्द का यह भी अर्थ है कि जो आत्म प्रदेशों को प्रकम्पित करता है उसको कषाय कहते हैं, इसलिये कषायों का ही विजय करने से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

(प्रश्न) कषाय के कितने भेद हैं ?

(उत्तर) कषाय के १६ भेद हैं—जिनमें से प्रथम चार अनन्तानुबन्धी हैं, उनका क्षय वा उपशम अथवा क्षयोपशम होने पर सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है, तथा चतुर्थ गुणस्थानक की स्पर्शना होती है, एक देश से कषाय का विजय होने से देशनिर्ग्रन्थ होता है तथा सम्पूर्ण प्रकृतियों का नाश होने से अर्थात् २५ चारित्र मोहनीय और ३ दर्शन-

---

१—कष्यन्ते पाड्यन्ते प्राणिनो यस्मिन्नसौ कषः संसारः ।
२—कषस्य संसारस्यायोलाभोऽनेन इति कषाय ॥

अन्य मतावलम्वी कहते हैं कि मनुष्य दश हजार हाथियों को चाहे जीतले परन्तु कामदेव का जीतना कठिन है, यह वात एक प्रकार से उचित ही प्रतीत होती है, क्योंकि इसका जीतना अतिदुर्धर है। किञ्च यथार्थतया इस पर विजय प्राप्त किये विना मनुष्य का कोई भी कार्य सम्यक्तया सिद्ध नहीं हो सकता है, शास्त्रकारों ने कहा है कि—

रागे जिए जिए पंचे, जिए पंचे जिए दसे ॥१॥

अर्थात् प्रथम एक (मन) को जीतना चाहिये, उसके जीतने के वाद पांच (इन्द्रियों) को जीतना चाहिये फिर चार कषायो को जीतना चाहिये, इन दशो को जो जीत लेता है यही पति है ॥१॥

सत्य है-जो पुरुष पूर्वोक्त दशों को साध लेता है (वश में करलेता है) वही साधु है किन्तु जो इन दशो को नहीं साधता है वह वास्तव में असाधु है। यह संक्षेप से साधु धर्म के विषय में कथन किया गया है, जो साधु अपने इन धर्मों मे तत्पर रहता है वही वास्तव में साधु है, किन्तु जो साधु इन धर्मों का उल्लंघन करता है उसे असाधु कहना चाहिये कहा भी है कि—

संसारो अ अणंतो भठ्ठचारित्तस्स लिंग जीविस्स।
पंच महव्वयतुंगो, पागारो भिल्लियं जेणं ॥

अर्थात्—चारित्र से भ्रष्ट लिंगजीवी साधु पाँच महाव्रत रूपी ऊँचे प्राकार को तोड़ता है अतः उसे अनन्त संसार होता है ॥ १ ॥

(प्रश्न) बहुत[1] से पीताम्वरी लोग प्रायः हम दया धर्मियों पर कई प्रकार के आक्षेप किया करते हैं इसलिये कृपा करके उनके आक्षेपों के उत्तर प्रदान कर अनुगृहीत कीजिये।

(उत्तर) ठीक है, कहो वे तुम पर क्या २ आक्षेप करते हैं, उनका यथायोग्य उत्तर दिया जावेगा।

१—देखो मेरा भूमिका लेख (संशोधक)।

(प्रश्न) वे कहते हैं कि तुम दया धर्मी लोग तो थोडे काल से निकले हो, इसलिये तुम्हारा मन्तव्य ठीक नहीं है।

(उत्तर) उनके इस आक्षेप का उत्तर यह है कि—

ज रयणी चण समणे भगव महावीरे जाव सव्व दु'खपहीणे त रयणी चण खु दाएभासरसी नाम महग्गहे दो वाससहस्स ठिई समणस्स भगवओ महावीरस्स जम्मनक्खत्तं संकतं तप्पभिईचण समणाणं निगथिणय नो उदिए उदिए यूया सक्कारेच पवत्तेइ। जया ण से खुदाए जाव जम्मनक्खत्ताओ वियक्कते भविस्सइ तयाणं समणाण निग्गथाण निगथिणय उदिए उदिए यूया सक्कारे भविस्सइ ॥ १ ॥

अर्थ—जब भगवान् महावीर देव मुक्ति को पधारे, उस समय दो सहस्र वर्ष का तीसवाँ भस्मग्रह जन्म नक्षत्र था (अर्थात् भगवान् का जन्म नक्षत्र बैठा था), इसलिये दो सहस्र वर्ष तक जिन मार्ग में साधु साध्वी का पूजा सत्कार न हुआ, धर्म मन्द हो गया, जब दो सहस्र वर्ष पूरे हो गये तब धर्म का उद्द्योत हुआ, महावीर स्वामी के मुक्ति पधारने के पश्चात् तीन वर्ष तथा साढे आठ महीनों के पीछे पाँचवें आरे का प्रारम्भ हुआ, पाँचवें आरे के चारसौ सत्तर वर्ष तक वीरान्त सवत् चलता रहा, पीछे विक्रमादित्य का सवत् शुरू हुआ पूर्वोक्त दो सहस्र वर्ष सवत् १५३२ में पूरे हुए, तब सिद्धान्त को देखकर दया मार्ग का प्रकाश किया, अर्थात् दया धर्म प्रकट हुआ।

पूर्वोक्त पाठ कल्पसूत्र का है, इस पाठ को तो पीताम्बरी भी मानते हैं, फिर व्यर्थ में आक्षेप क्यों करते हैं, देखो! भस्मग्रह की विद्यमानता में राजा कुमारपाल, तेजपाल और वस्तुपाल आदि ने बहुत से मन्दिर बनवाये थे तथापि जिन मार्ग का प्रदीपन नहीं हुआ था, दो सहस्र वर्ष के अन्दर ज्यों ? बहुत से जिन मन्दिर बने त्यों ?

अधिक मिथ्यात्व बढ़ता गया, परन्तु दयामार्ग के प्रवृत्त होने से वह जिनमार्ग प्रदीप्त हुआ, समझ लेना चाहिये कि सिद्धान्त तो अनन्त काल से चला आ रहा है, देखो ! ओसवाल वैश्य भी पहिले क्षत्रिय थे, तथा मांसाहारी भी थे, परन्तु पीछे दयाधर्मी वैश्य हुए, हिंसा धर्म का परित्याग कर दयाधर्म को स्वीकार किया, यह उनका कार्य स्वल्प काल पूर्व होने पर भी संसार में प्रशंसनीय है ।

(प्रश्न) पूर्वोक्त कल्पसूत्र का प्रमाण देने पर पीताम्बरी लोग हम से कहते हैं कि—"तुम दयाधर्मी लोग तो कल्पसूत्र को मानते नहीं हो, फिर उसका प्रमाण उद्धृत कर भस्मग्रह का उदाहरण क्यों देते हो ।" इसका उन्हें क्या उत्तर दिया जावे ?

(उत्तर) इसका उन्हें यह उत्तर देना चाहिये कि "हमने तुम्हें तुम्हारे ही माननीय ग्रन्थ की साक्षी दिखलाई है, कि जिस से तुम्हारा हृदय सन्तुष्ट हो," देखो ! श्री महावीर स्वामी ने सोमल ब्राह्मण शुकदेव आदि से यह कहा था कि "तुम्हारे शास्त्र में कुलत्थ और माष आदि के जो भेद कहे गये हैं उसी प्रकार से जैन-सिद्धान्त भी मानता है" अब देखो कि श्री भगवान् उनके मत को वा शास्त्र को नहीं मानते थे तथापि उनकी सन्तुष्टि के लिये उन्हें उन्हीं के ग्रन्थों का प्रमाण दिया था ।

संघवहा के बनाने वाले ने भी पञ्चम काल हुंडासर्पिणी में असंयती की पूजा का दशवाँ अछेरा माना है, तीसवें भस्मग्रह का वर्त्तना माना है। ऊपर के कथन से सिद्ध है कि जब वह भस्मग्रह उतर गया तब श्री दयामार्ग की प्रवृत्ति हुई । इस विषय की स्मृति के लिये नीचे लिखे छन्दों को कण्ठस्थ कर लेना चाहिये:—

संवत् पन्द्रह सै इकतीसा गयो, एक सुमन तिहाँ थी हुओ ।
अहमदाबाद नगर मझार । लुंको शाह बसै सुविचार ॥१॥
जो जो देखे मुनि आचार, ते गाथा नो करै उधार ।
ग्रन्थ अर्थ सुमिलावे घणो । उद्यम मांड्यो लिखवा तणो ॥२॥

तेहने मिल्यो लिखवा नो मिस, तेहने बात विचारी ऐसे।
सूत्र में लिख्यो यह आचार। इन के पासे नहीं एक लिगार ॥३॥
पढ़े ग्रन्थ ने राखे वेस। थापे नित कूडो उपदेश।
लोग अज्ञानी जाणे नहीं। गुरुजाणी वादे छे सही ॥४॥
सूत्र में जो गुरु भाखिया। सच्ची पाले जे ऋषि किया।
साधु को मारग निग्रन्थ। यह तो दीखे छे सग्रन्थ ॥५॥
साधु बोले छे निरवद्द। पाखडी बोले छे सावद्द।
जोतिष निमित्त भाखे घणा। यह मारग नहिं साधु तणा ॥६॥

"पासत्थ वदमाणस्स, नेव कित्ती निज्जुरा होइ।
जायइ कायकिलेसो, बधइ कस्स आणइ"

ऐसा सुणाया उपदेश। लोगों के मन हुआ सदेश।
लोंको कहै सुणजो भाई। कुगुरू सग महा दु खदाई ॥७॥
लोगों के मन शका पडी। लोंको कहै ते सच्ची पडी।
डाहाते विचारो घडो। छोड्यो सग गच्छ वासी तणो ॥८॥
पूछे गच्छप तीरे वाणिया। काई मरोड रह्यो प्राणियां ॥९॥
कुलना गुरु ने वांदो नहीं। हमें पढाया तुम ने सही।
तब उत्तर लोंका जी कहे। तुम में आचार्य गुण नहीं रहे ॥१०॥
तुमे कहाओ उत्तम साध। घणा करो छो तुम अपराध।
गुण छत्तीसे जो परवर्या। ते गुण तुमने दूरे धर्या ॥११॥
तो गुरु जाणी कैसे वँदिये। तब उत्तर दियो लिंगिये।
गुण अवगुण नी बात मत करो। भेख देखि मन निश्चय धरो॥१२॥
जिनजी कह्यो वाँदेवो मेस। गुण को वर्णन नहिं लवलेस ॥१३॥

उस समय लोंकाजी ने यह दृष्टान्त दिया कि किसी पुरुष ने एक कपड़े की कोथली (थैली) में मिसरी भरी थी, कुछ दिन के बाद उसने उसमें से मिसरी को निकाल लिया तथा उसमें पत्थर के टुकड़े भर दिये, उस थैली के ऊपर नाम मिसरी का लिखा था, किसी पुरुष

ने उस नाम को पढ़ कर मिसरी को लेना चाहा, उसको मिसरी तो कहाँ से मिलती, पत्थर के टुकडे हाथ लगे, इसी प्रकार इस शरीररूप थैली में मिसरी के नाम के समान यह ऊपरी भेष है, परन्तु इस में पत्थर के टुकड़ों के समान अवगुण भरे हैं तभी तो उद्धार नहीं होता है।

चौपाई।

लुंका कहै हमे परूयो धर्म । तुमने नहीं जाण्यो तेनो मर्म ॥
गुरु आचारी गुणवन्त देव । हमें करीजै तेनी सेव ॥
तुम्हे जोओ मन में बीमासा । नहिं रहिये कुगुरू के पासा ॥
भलो सेवणो विपधर सांप, कुगुरू सेव्या वहुलो पाप ॥
लोंको कहै सुणो मुझ वाणी । कुगुरू संगति माठी धाणी ॥
भलो धरम हमें आदर्यो । कुगुरू सङ्ग हमे परिहर्यो ॥

लोंको जी ने अनेक प्रश्न पूछे थे, परन्तु गच्छवासी उनका उत्तर नहीं दे सके, किन्तु उलटा क्रोध करने लगे, तब लोंका जी उनका संग छोड़ कर स्वयमेव शास्त्रों को पढ़ने लगे तथा अनेक जीवों को प्रतिबोध देने लगे, उस समय पाटन नगर में शाह जी वोजी तथा सूरतनगर में शाह रूप जी इत्यादि अनेक भद्र पुरुपों ने धन, धाम आदि को छोड़कर विरत् होकर शास्त्रानुसार संयम का ग्रहण किया, उन्होंने अनेक स्थानों में शास्त्रीय न्यायमार्ग के विपय में चर्चा कर जिनमार्ग का उद्योत किया।

(प्रश्न) विमतानुयायी कहते हैं कि—"शंखेश्वर पार्श्वनाथ की प्रतिमा आठवें चन्द्रप्रभु की स्थापित की हुई है।" यह बात सूत्र विरुद्ध है अथवा सूत्र के अनुकूल है ?

(उत्तर) उन लोगों का कथन सर्वथा सूत्र विरुद्ध है, देखो ! श्री भगवती सूत्र में आठवें शतक में नौवें उद्देशक में यह पाठ है कि—

से किं तं समुच्चयबंधे, समुच्चयबंधे अड़ग तड़ाग नदी दह वावी पुक्खरणी दीहीयाणं गुंजालियाणं सराणं सर-

पतियाए विलपतियाए देवकुल सभा पव्वयथूभ खाइयाएं फरिहाए यागार अगलगचदियदार गोपुर तोरणाए पासायघरसरए लेए आवणाए सिंघाडत्त तियच उक्कचच्चर चउमुह माहा पह माइयाए वुहा चिखल सिलेस ममुचय वघे समुपज्जइ, जहणेणं अतो मुहुत्त उक्कोसेणं सखेज्ज काल ॥१॥

इस लेख से सिद्ध होता है कि कृत्रिम वस्तु सख्येय काल तक रहती है, इससे अधिक नहीं रहती है, फिर देखो कि भरत का कराया हुआ मन्दिर अष्टापद तीर्थ में महावीर स्वामी के समय तक कैसे रहा? गौतम स्वामी ने कैसे वन्दना की? इस विषय में यदि कोई यह कहे कि "देवता ने स्थिति को बढा दिया" सो यह कथन मिथ्या है, क्योंकि देवता स्थिति को नहीं बढ़ा सकता है, देखो! पृथिवी काय की स्थिति २२ हजार वर्ष की है, इस पर यह शका हो सक्ती है कि ये पर्वत हजारों लाखों वर्ष तक कैसे ठहरते हैं, क्योंकि पृथिवी के लगे हुए हैं, उनमें से पृथिवी का रस पहुचता है और टुकड़ा काट कर अलग कर दिया गया है, उसकी स्थिति २२ हजार वर्ष से अधिक कैसे रह सक्ती है? देखो! मनुष्य के जीवन समय में उसके नख और वाल बढते हैं। आत्मा के पृथक् होने पर वे नहीं बढते हैं। इसी प्रकार से पूर्वोक्त विषय में भी समझ लेना चाहिये।

(प्रश्न) पीताम्बरी लोग कहते हैं कि "देव गुरु और धर्म के लिये जो हिंसा है उसमें पाप नहीं है" क्या यह बात ठीक है?

(उत्तर) उनका पूर्वोक्त कथन सर्वथा असत्य है, देखो! सूत्र का यह पाठ है कि —

कह ए भते जीवा अप्पा उपत्ताए कम्मं पकरेइ, गोयमा पाणे अइवाइत्ता मूस वइत्ता तहारूव समए वा

माहणं वा अशसुएणं अणेसणिज्जेणं असण पाण खाइमसाइमेणं पडिलाभेत्ता, एवं खलु जीवा अप्पा-उपत्ताए कम्म पकरेइ ॥१॥

इस पाठ को देख कर विचार लेना कि—हिंसा से देव और गुरु की भक्ति कर लेने से लाभ कहाँ से होगा ? जिस प्रकार मांसभोजी और मांसदाता को नरक में जाना पड़ता है उसी प्रकार आधाकर्मी को विराधक होना पड़ता है ।

(प्रश्न)—पीताम्बरी लोग कहा करते हैं कि "मुखपत्ति इसलिये होती है कि बोलते समय थूक न पड़े तथा थूक का छींटा न लगे अतः उसे लगा लेना चाहिये, परन्तु प्रति समय उस के बाँधे रखने की कहीं आज्ञा नहीं है," इस विषय में कृपया उत्तर दीजिये ।

(उत्तर) उनका यह कथन मिथ्या है, क्योंकि बोलते समय थूक का पड़ना तथा थूक का छींटा न लगना उसका गौण प्रयोजन है किन्तु उसका मुख्य प्रयोजन तो वायुकाय जीवों की रक्षा है, अतः उसे सर्वदा ही बाँधे रखना चाहिये, देखो ! श्री भगवती सूत्र में सोलहवें शतक के दूसरे उद्देशक में कहा है कि—

गोयमा जहराणेणं सक्कंदे देविंदे देवराया सुहुमकायं अणि जूहित्ताणं भासं भासति ताहे सक्के देविंदे देव-राया सावज्जं भासं भासति, जाहिएं सक्के देविंदे देवराया सुहुम कायणिज्जूहित्ताणं भासं भासेति ताहे सक्कंदे देविंदे देवराय अणवज्जं भासं भासइ से तेणठेणं भासइ ॥१॥

पूर्वोक्त पाठ में कहा गया है कि-जब शकेन्द्र वस्त्र से मुखको ढाँक कर बोलते हैं तब वायु काय जीव की रक्षा होती है अतः उस समय वे निरवद्य भाषा बोलते हैं परन्तु जब खुले मुंह बोलते हैं तब

वायुकाय की हिंसा होने से सावद्य भाषा बोलते हैं, बस इस पाठ से मुंह पत्ती की सिद्धि होती है।

(प्रश्न) वे लोग हमसे यह कहा करते हैं कि "तुम लोग शास्त्र की आशातना करते हो" तो इसका उन्हें क्या उत्तर देना चाहिये।

(उत्तर) उनको यह उत्तर देना चाहिये कि "महावीर भगवान् के समय में शास्त्र कहाँ था-परन्तु मुंहपत्ती तो सदा से ही चली आ रही है, देखो! उत्तराध्यायन में छब्बीसवें अध्ययन में कहा है कि "मुंह पत्तिय पडिलेहिता" इस पाठ को नेत्र खोल कर देख लेना चाहिये।

(प्रश्न) पीताम्बरी लोग हमसे प्राय कहा करते हैं कि "शिखरजी, गिरनार, वा शत्रुञ्जय इत्यादि किसी तीर्थ की यात्रा करो तो तुम्हें बड़ा पुण्य लाभ होगा। सो क्या यह उनका कथन ठीक है?

(उत्तर) उनका यह कथन बिल्कुल ठीक नहीं है, देखो! जब कोई साहूकार (सराफ) किसी स्थान पर अपनी सराफे की दूकान करता है तो लोग उसकी दूकान पर जाकर बैठते हैं और सोना चाँदी खरीदते हैं, कालान्तर में जब वह सराफ उस दूकान को छोड़ देता है तथा अन्यत्र कहीं जाकर अपनी दूकान खोलता है तब वह उसकी पहिली दूकान सूनी पड़ी रहती है अर्थात् वहाँ कोई भी नहीं जाता है, इस दृष्टान्त से समझ लेना चाहिये कि सराफ के समान भगवान् वा मुनि गण तो कर्मों का नाश कर मुक्ति में पधार गये, अब दूकान के समान ये सूने पहाड़ रह गये, ये वन्दनीय कैसे हो सकते हैं? क्या सूनी दूकान में जाने से किसी को सोना चाँदी मिल सकता है, किञ्च यह भी तो सोचना चाहिये कि सिद्ध तो सर्वत्र ही ढाई द्वीप में हुए हैं अर्थात् ऐसा कोई स्थान नहीं है कि जहाँ सिद्ध न हुए हों तो फिर पूजकों को सब ही स्थानों को पूजना चाहिये, उन पहाड़ों में ही क्या रक्खा है?

(प्रश्न) पीताम्बरी लोग कहते हैं कि-"यात्रा करना तो शास्त्रों में लिखा है" क्या यह उनका कथन ठीक नहीं है?

(उत्तर) हाँ, यह उनका कथन सर्वथा अयथार्थ है, देखो भगवती सूत्र के १८ वें शतक के दशवें उद्देशक में यह वर्णन है कि—

से किं ते भंते जत्ता सोमिला जं मे तवनियमं संजमसज्झाय झाण आवस्सगमादिएसु जोगेसु जयणा सेत्तं जत्ता ॥१॥

सोमल ब्राह्मण ने श्री महावीर स्वामी से पूछा कि हे भगवन्! "यात्रा किस को कहते हैं," इस प्रश्न को सुन कर श्री भगवान् ने उत्तर दिया कि "बारह प्रकार के तपो नियम, सत्रह प्रकार के संयम तथा स्वाध्याय, ध्यान और आवश्यक आदि योगों में जो यतना है वही यात्रा है" भगवान् के इस उत्तर से सब को जान लेना चाहिये कि यात्रा का क्या स्वरूप है।

सब ही तीर्थंकारों ने यात्रा के विषय में ऐसा ही कथन किया है, किन्तु पर्वत पर जाने को यात्रा किसी सूत्र में नहीं कहा है, यदि किसी सूत्र में पर्वत पर जाने को यात्रा कहा गया हो तो पीताम्बरी लोग हमें पाठ दिखलावें।

किञ्च भगवती सूत्र के २०वें शतक के ८वें उद्देशक में यह पाठ है कि—

तित्थं भंते तित्थं तित्थं करे तित्थं गोयमा अरहा ताव नियमा तित्थकरे तित्थं पुण च उव्वराणाइण समणसंघे, तं जहा समणा समणि ओसावगा सावियाओ ॥१॥

इस पाठ में बतलाया गया है-तीर्थङ्कर तीर्थनाथ हैं, तीर्थ चार को बतलाया है, तद्यथा-साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका, किन्तु पर्वत को कहीं भी तीर्थ नहीं बतलाया गया है, यदि कहीं पर्वत को तीर्थ कहा गया हो तो प्रमाण बतलाना चाहिये।

(प्रश्न) पीताम्बरी लोग कहते हैं कि—"शत्रुञ्जय पर्वत शास्वत है," क्या यह बात ठीक है ?

(उत्तर) उक्त कथन सर्वथा सूत्रविरुद्ध है, देखो श्री भगवती सूत्र के सातवें शतक के छठे उद्देशक में कहा है कि—"जब छठा आरा लगेगा तब भरत क्षेत्र में गङ्गा, सिन्धु नदी और वैताढ्यपर्वत ये तीन वस्तुयें शास्वत रूप में रहेंगी और सब पर्वतों का विच्छेद हो जावेगा" इसी प्रकार श्री जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति में भी कहा है ।

(प्रश्न) वे लोग कहते हैं कि—"ऋषभकूट तो पाठ में नहीं आया है, सो क्या ऋषभकूट का विच्छेद होगा" कृपया इस का उत्तर दीजिये ।

(उत्तर) ऋषभकूट रहेगा, गङ्गासिन्धु कूट रहेगा, परन्तु पर्वतों में से तो एक वैताढ्य ही रहेगा, उन लोगों से यह पूछना चाहिये कि—"तुम लोग शत्रुञ्जय को पर्वत मानते हो या कूट मानते हो, फिर यदि तुम लोग शत्रुञ्जय को शास्वत मानते हो तो उसमें न्यूनाधिकता नहीं होनी चाहिये, क्योंकि शास्वत पदार्थ सर्वदा एक रूप में रहता है तुम उसे शास्वत मान कर यह कैसे कहते हो कि छठे आरे में एक हाथ ऊँचा तथा सात हाथ लम्बा रहेगा" भला शास्वत वस्तु में कभी न्यूनता या अधिकता हो सकती है ? हाँ ऋषभकूट तो अवश्य उतना ही रहेगा, उसमें न्यूनाधिकता नहीं होगी ।

(प्रश्न) तो फिर गगासिन्धु कम क्यों हो जावेगी ?

(उत्तर) गङ्गा का क्षेत्र साढ़े बासठ योजन का है, यह क्षेत्र न्यून नहीं होगा-किन्तु उसका प्रवाह मात्र न्यून होगा, यह जान लेना चाहिये ।

(प्रश्न) मूर्त्तिपूजक लोग कहते हैं कि—"ज्ञाता सूत्र में कय-बलिकम्मा" पाठ है, उससे मूर्त्तिपूजा सिद्ध होती है ।"

(उत्तर) यह उनका कथन ठीक नहीं है—देखो—ज्ञातासूत्र के दूसरे अध्ययन में यह वर्णन है कि—भद्रासार्थवाही पुत्र के लिये नाग भूत यक्ष को पूजने के लिये नगर से बाहर गई थी, सूत्र का पाठ यह है —

जेणेव पुक्खरणी तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता पुक्खरणी तीरे सुवहु पुप्फगंधम्मल्लं तवइत्ता पुक्खरणी श्रोगाहेति, जलमज्जनं करेइ, जलमज्जनं करेइत्ता जलकीडं करइ जलकीडं करइत्ता एहाया कयवल्लिकम्मा श्रोलगपड़साड़गा जाए तत्थ श्रोपलापं जाव सहस पत्तायं गिरिहत्ता पुक्खरणीयोपचुरुइत्ता तेसु वहुपुप्फगंधम्मल्लं गिरिहत्ता जेणेव नागघरे जाव वेसमणघरे तेणेच उवागच्छइ ॥१॥

इस पाठ में कहा गया है कि—"वावड़ी में वलिकर्म किया" यदि वलिकर्म का अर्थ प्रतिमा पूजन वतलाते हो तो कहो कि किस की प्रतिमा का पूजन किया? नागयक्ष का पूजन तो वावड़ी में स्नान कर उसमें से निकल उसके स्थान में जाकर किया है, फिर "वलिकम्मा" का अर्थ प्रतिमा पूजन वतलाकर व्यर्थ का अड़ंगा क्यों लगाते हो? देखो ज्ञाता जी के १६ वें अध्ययन में भी यह वर्णन है कि—"द्रौपदी ने स्नान कर वलिकर्म किया, तदनन्तर वस्त्र को पहिना" भला सोचो तो सही कि क्या स्त्री नग्न रह कर देव पूजा कर सकती है? फिर वतलाओ कि स्नानघर में कौनसा देव था।

राय पसेणी में यह वर्णन है कि—"कठियारे ने जंगल में वलि कर्म किया" वतलाओ कि वहां कौनसे देव को पूजा? "कयवलिकम्मा" पद स्नान विशेष का ही वोधक प्रतीत होता है।

कोणिक, श्रेणिक, चेड़ा, दसारण, भद्र और हस्तपाल इत्यादि अनेक राजा हुए हैं तथा दश उत्कृष्ट श्रावक हुए हैं परन्तु किसी ने भी प्रतिमा का पूजन नहीं किया तथा किसी ने भी मन्दिर नहीं बनवाया, जब किसी सूत्र में प्रतिमा पूजन का विषय नही है तो मनःकल्पना से ढोंग जमाना उचित नही है?

(प्रश्न) मूर्त्तिपूजक लोग कहते हैं कि—"शास्त्र में सिद्धायतन का वर्णन है सिद्धायतन सिद्धों के घर को कहते हैं तथा सिद्ध नाम प्रतिमा का है" सो क्या उनका यह कथन ठीक नहीं है ?

(उत्तर) उनका यह कथन सूत्र विरुद्ध है, देखो,—यदि वे लोग "सिद्धायतन" शब्द को गुणनिष्पन्न नाम मानें तो भगवती सूत्र के नवें शतक में "ऋषभदत्त" ब्राह्मण का वर्णन है, वहां "ऋषभदत्त" को ऋषभदेव जी का दिया हुआ मानना चाहिये, उत्तराध्ययन सूत्र के अठारहवें अध्ययन में "सजती" नामक राजा का वर्णन है, नाम तो उसका "सजती" था, परन्तु कर्म उसका असजती का था तो क्या उसे भी नाम मात्र के द्वारा सयती मानोगे, किञ्च विजय, विजयन्त, जयन्त और अपराजित, ये चार अनुत्तर विमान के नाम असंख्यात द्वीप समुद्र के चार चार द्वारों के कहे हैं, तो क्या नाम मात्र से वे अनुत्तर विमान से सम्बन्ध रख सकते हैं ? कभी नहीं, इसलिये यह मानना चाहिये कि "ऋषभदत्त" "सजती" तथा "महापुरुष" इत्यादि नाम गुण निष्पन्न नहीं हैं अर्थात् गुणरहित (अर्थ शून्य) हैं इसी प्रकार "सिद्धायतन" नाम को भी जानना चाहिये।

किञ्च-१७० वें विजय में तीन २ तीर्थ कहे हैं—मागध, वरदाम, और प्रभार, परन्तु सम्यग् दृष्टि पुरुष के वे आराधन के योग्य नहीं हैं।

सुनो ! यदि पीताम्बरी लोग "सिद्धायतन" शब्द को गुणनिष्पन्न (अन्वर्थ वा सार्थक) नाम मानें तो भी सिद्धायतन शब्द का अर्थ "सिद्धों का घर" होता है, अर्थात् यह अर्थ होता है कि सिद्धायतनों में सिद्ध रहते हैं, तो क्या वास्तव में यह बात है ? इस बात का उन्हें समाधान करना चाहिये।

और सुनो। सब पर्वतों में, द्वीप समुद्रों में वा देवलोक में चार २ प्रतिमायें शास्वती कही गई हैं तथा चारों का नाम सर्वत्र एकसा कहा गया है, तद्यथा-ऋषभा, वर्धमाना, चन्द्रनयना तथा

वीरपणा, इस प्रकार ये चारों नाम तीर्थङ्करों के नाम से कहे गये हैं परन्तु ये तीर्थङ्करों की प्रतिमायें नहीं हैं, तो फिर ये चारों नाम अनन्त काल के कैसे हो सकते हैं ? यद्यपि ये चारों नाम चौवीस में से हैं परन्तु इन नामों से मेल नहीं मिलता है, वास्तविक तात्पर्य यह है कि अनन्त काल के जो देहरा आदि हैं उनको "सिद्धायतन" नाम से पुकारा गया है, देखो ! इस विषय की साक्षी अनुयोग द्वार में है:—

से किं तं दस नामे, दस नामे दस विहे पन्नते, तंजहा गोण्णे नोगोणे आयाण पराणं पडिवक्खपराणं पाहाण पाए अणाइ सिद्धाइत्तेणं नामेणं अवयवेणं संजोगेणं पमाणेणं, से किं तं अणाइय सिद्धतेणं, अणाइसिद्धतेणं धम्मत्थिकाए, अधम्मत्थिकाए आगासत्थिकाए, जीव-त्थिकाए, पोगलत्थिकाए, सेत्तं अणाइयसिद्धत्तेणं ॥१॥

अब उन लोगों से यह कहना चाहिये कि—जैसे तुम सिद्धायतन को वन्दनीय मानते हो, वैसे ही तुम्हें इनका भी वन्दन करना चाहिये, क्योंकि यह भी अनादि सिद्ध हैं, उक्त पाठ में जो कथन है उसका तो परमार्थ यही है कि कृत्रिम न होने से ये नाम हैं।

(प्रश्न) वैताढ्य पर्वत में नौ कूट हैं तो सब को सिद्धायतन क्यों नहीं कहा है ?

(उत्तर) इसका उत्तर यह है, सुनो—अनुयोग द्वार में कहा है कि—"मह्यां शेते इति महिषः" अर्थात् पृथिवी पर जो सोता है उसको महिष (भैंसा) कहते हैं, अब प्रश्न उठता है कि पृथिवी पर तो सब ही सोते हैं तो क्या सब को महिष कहना चाहिये, फिर कहा है कि—"कुञ्जे रमते इति कुञ्जरः" अर्थात् कुञ्ज में जो रमण (क्रीड़ा) करता है उसको कुञ्जर (हाथी) कहते हैं, इस में भी प्रश्न उठता है कि अन्य जन्तु भी कुञ्ज में रमण करते हैं तो क्या वे भी कुञ्जर कहलावेंगे ? बात यह है कि विशेषता को लेकर अथवा योगरूढि की

अपेक्षा से ये नाम दिये गये हैं, इसी प्रकार सिद्धायतन के विषय में भी जान लेना चाहिये कि जिस में देव, देवी आते रहते हैं और निवास करते हैं, उनको सिद्धायतन कहते हैं, परन्तु कूट में तो वे निवास करते नहीं हैं, इस अपेक्षा से यदि वे लोग प्रतिमा के वासस्थान को "सिद्धायतन" कहते हैं तो हम उनसे यह पूछते हैं कि द्रौपदी के अधिकार में गणधर महाराज ने सिद्धायतन का कथन क्यों नहीं किया ? तुम्हारे मन्तव्यानुसार उन्हें प्रतिमाभवन को सिद्धायतन कहना चाहिये था ।

देखो ! श्री आदिनाथ भगवान् से लेकर श्री महावीर स्वामी पर्यन्त सब का एक ही उपदेश है-अर्थात् सब ने आगार धर्म और अनगार धर्म, इन दोही धर्मों की प्ररूपणा की है, किन्तु यात्रा का करना, सघ निकालना, मन्दिर बनवाना तथा प्रतिमा का पूजना, इसको कहीं भी धर्म नहीं बतलाया है, यदि किसी सिद्धान्त ग्रन्थ में इन बातों को धर्म बतलाया गया हो तो लेख बतलाओ ।

(प्रश्न) मूर्ति पूजक लोग कहते हैं कि "चार निक्षेप हैं, इनमें से स्थापना निक्षेप वन्दनीय है," क्या यह उनका कथन उचित है ?

(उत्तर) यह उनका कथन सर्वथा सूत्र विरुद्ध है, देखो ! अनुयोग द्वार में चार निक्षेपों का तो वर्णन है, परन्तु चारों को ही वन्दनीय नहीं कहा गया है, किन्तु केवल मात्र भाव निक्षेप को वन्दनीय कहा है, देखो—

नाम जिणा जिणनामा ठवणजिणा जिन पडिमाओ ।
दव्वजिणा जिण पडिसरीरा भाव जिणा अरिहन्ता ॥१॥

जिन शब्द के चार निक्षेपों का वर्णन उक्त गाथा में किया गया है, प्रथम नाम निक्षेप है माता पिता ने ऋषभ, शान्ति, नेमि, पार्श्व, महावीर, जिन, ऋषि और जिनपाल, इत्यादि जो नाम रक्खे हैं उनको नाम निक्षेप कहते हैं, नाम निक्षेप में अरिहन्त का गुण नहीं होता है, अत वह वन्दनीय नहीं है। पत्थर की, काष्ठ की, पीतल की,

रूपे की वा सुवर्ण आदि वस्तु की तीर्थङ्कर के आकार वाली जो मूर्ति है उसको स्थापना निक्षेप कहते हैं, उसमें अर्हद्भाव भले ही मानो, परन्तु वास्तव में वह अरिहन्त नहीं है, इस लिये वह भी वन्दनीय नहीं है, जैसे श्री मल्लिनाथ भगवान् ने अपनी मूर्ति बनवाई; परन्तु उसमें श्री मल्लिनाथ भगवान् के गुण न होने से वह वन्दनीय नहीं है, द्रव्य निक्षेप के बहुत से भेद हैं परन्तु ग्रन्थ के विस्तार के भय से संक्षेप में लिखा जाता है देखो! श्री तीर्थङ्कर महाराज जब तक गृहस्थ वास में विद्यमान हैं, संयम का ग्रहण नहीं किया है तब तक वे द्रव्य तीर्थङ्कर कहे जाते हैं, वे भी वन्दनीय नहीं हैं तथा केवल ज्ञान केवल ज्ञान दर्शन से युक्त चौतीस अतिशयों से युक्त तथा ३५ वाणी गुणों से युक्त जो हरिहन्त हैं उनको भाव अरिहन्त कहते हैं, उन्हों को भाव तीर्थङ्कर कहते हैं, ये वन्दनीय हैं।

(प्रश्न) मूर्ति पूजक लोग स्थापना निक्षेप को वन्दनीय मानते हैं, वे कहते हैं कि इसमें यद्यपि वीतराग का तो गुण नहीं है, परन्तु उसके दर्शन और पूजन से अपना ध्यान शुद्ध होता है, इसलिये वह वन्दनीय है।

(उत्तर) उनका यह कथन मिथ्या है, देखो! यदि प्रतिमा के दर्शन से ही शुभ ध्यान होता है तो श्री मल्लिनाथ जी के स्वरूप को देख कर छः राजाओं को कामदेव क्यों उत्पन्न हुआ? किन्तु जब उनका उपदेश सुना तब ही उन्हें वैराग्य उत्पन्न हुआ।

(प्रश्न) वे लोग कहते हैं कि—"नमूना देखने से भाव उत्पन्न होता है।"

(उत्तर) यह कथन ठीक नहीं है, देखो उत्तराध्ययन सूत्र के १८वें अध्ययन में कहा है कि—

करकंडू कलिंगेसु पांचालेसु पदुम्महै॥
नमिराय विदेहेसु गधारे सुय निग्गहै॥१॥

अर्थात् वृषभ को देख कर कडू ने कलिंग देश के राज्य को छोड़ दिया तथा उसे वैराग्य उत्पन्न हुआ, द्रुमुही राजा ने स्तम्भ को देख कर पाचाल देश के राज्य को छोड़ दिया, नमी राजा को चूड़ी देख कर वैराग्य उत्पन्न हुआ तथा उसने विदेह देश के राज्य को छोड़ दिया तथा निगही राजा ने आम को देख कर गन्धार देश के राज्य को छोड़ दिया। फिर इक्कीसवें अध्ययन में लिखा है कि—समुद्रपाल जी ने चोर को देख कर प्रतिबोध को पाया था, तात्पर्य यह है कि पूर्वोक्त पाच कारणों को देख कर पूर्वोक्त पाचों को वैराग्य उत्पन्न हुआ था, तो पूर्वोक्त पाचों पदार्थ भी वन्दनीय होने चाहियें, इसी प्रकार मूर्ति के विषय में भी जान लेना चाहिये, वास्तव में वैराग्य का कारण तो निश्चय तथा क्षयोपशम भाव है, बाह्य कारण तो अनेक हैं—परन्तु वे निन्दनीय नहीं होते हैं, देखो! छ ओं राजाओं को मोहन घर में मूर्ति को देख कर अर्थात् मल्लिकुमरी को देख कर वैराग्य भाव तथा जाति स्मरण उत्पन्न हुआ था, तथापि मल्लिनाथ का उन्हों ने वन्दन तो नहीं किया था, यह बात सूत्र की साक्षी से सिद्ध है। कैसे आश्चर्य की बात है कि—आज दिन प्रतिमा के लिये सघ निकाला जाता है, किन्तु जिस समय साक्षात् तीर्थङ्कर विद्यमान थे, विचरते थे, तब तो किसी राजा ने वा किसी सेठ ने सघ को नहीं निकाला था, नत्रों को खोल कर सम्यग् दृष्टि बन कर इस बात को विचारना चाहिये। देखो विपाक सूत्र में सुबाहु कुमर के विषय में तथा भगवती सूत्र में उदाई राजा के विषय में यह लिखा है कि—उन्होंने यह भावना की कि यदि भगवान् यहा पधारें तो हम उन्हें वन्दना करें, किन्तु यह विचार तो उन्होंने नहीं किया कि भगवान् की प्रतिमा यहाँ है हम उसको वन्दन करने जावें।

(प्रश्न) मूर्तिपूजक लोग कहते हैं कि—प्रतिमा वीतराग का नमूना है उस के वन्दन से भी वीतराग के वन्दन के तुल्य फल होता है? क्या यह बात ठीक नहीं है?

(उत्तर) उन लोगों का यह कथन भी मिथ्या है देखो! उवाई सूत्र में यह वर्णन है कि स्थविर भगवान् कैसे हैं ? उत्तर में कहा गया है कि "अजिणा जिण संकासा" यह बात साधु के लिये कही गई है, किन्तु प्रतिमा के लिये तो वहां कथन नहीं किया है, तो फिर प्रतिमा वीतराग का नमूना कैसे हो सकती है ? देखो ! रक्खी हुई बहुत सी वस्तु में से थोड़ी सी वस्तु को लेकर देखने को नमूना कहते हैं, सोने का नमूना सोना ही होता है किन्तु पीतल नहीं होती है, रत्न का नमूना रत्न ही होता है किन्तु काच नहीं होता है, हाथी का नमूना हाथी ही होता है किन्तु गधा नहीं होता है, स्त्री का नमूना स्त्री ही है किन्तु पुतली नहीं होती है, (इसी प्रकार सर्वत्र जानना चाहिये), इसी प्रकार ज्ञान दर्शन और चारित्र से युक्त वीतराग देव का नमूना ज्ञान और दर्शन से युक्त साधु हो सकता है, तथा साधु का नमूना साधु हो सकता है, किन्तु गोशाल मतानुसार जैमाली यती नहीं है, क्योंकि वेष होने पर भी ज्ञान दर्शन और चारित्र रूप गुण नहीं है इसलिये वह साधु और श्रावक के वन्दन करने योग्य नहीं है।

(प्रश्न) मूर्ति पूजक लोग कहते हैं कि—भगवती जी में प्रारम्भ में यह लिखा है कि—"नमो बंभीए लिवीए" अर्थात् ब्राह्मी लिपि को नमस्कार हो, तो जब लिपि को भी नमस्कार करना शास्त्रोक्त है तो प्रतिमा वन्दन में क्यों विरोध किया जाता है।

(उत्तर) यह उनका भ्रम है जो वे ऐसा कहते हैं, यथार्थ बात यह है कि—श्री ऋषभदेव भगवान् ने ब्राह्मी को अठारह देशों की लिपियाँ सिखलाई थीं, अतः "ब्राह्मी लिपि" पद से ऋषभदेव का ही बोध होता है, जैसे श्री अनुयोग द्वार में पाथा के ज्ञाता पुरुष को पाथा ही बतलाया है, इसी प्रकार से लिपि के ज्ञाता को ही लिपि के नाम से कहा गया है, तात्पर्य यह है कि इसी प्रमाण के अनुकूल सुधर्मा स्वामी ने श्री ऋषभदेव जी को नमस्कार किया है।

(प्रश्न) मूर्त्तिपूजक लोग द्रव्य निक्षेप को भी वन्दनीय मानते हैं, क्या उनका यह मन्तव्य भी ठीक नहीं है ?

(उत्तर) उनका यह मन्तव्य भी सर्वथा मिथ्या है, वे कहते हैं कि "मरिचका जीव चरम तीर्थङ्कर होने वाला है, उनको भरत जी ने वन्दना की थी" इत्यादि, सो यह कथन शास्त्र में नहीं है. यदि एसा होता तो आठवें अङ्ग अन्तगड के पाँचवें वर्ग में श्री नेमनाथ स्वामी ने जो फर्माया है कि—

एव खलु तुम्ह देवाणुप्पियातच्चा पुढवीओ उज्जालियाओ नरगाओ अणुत्तर उवट्टित्ता इहेव जवूदीवे दीवे भारहे वासे पड़ेसु जणवएसु सत्त दुवारे नयरे अम ये नाम अरहा भविस्सइ, तत्थण तुम्ह बहुयवासाय केवल पज्जाय पाउणित्ता सिज्झइ तएण से कि राहे वासुदेव अरहो अरिट्ठनेमिस्स अंतिएरायमट्ठ सो निस्सम हट्ठतुट्ठे आकोडेइ आकोडे इत्तातियइ छेदइत्ता सिघनाय कर इत्ता ।।१।।

अर्थ—"हे कृष्ण ! तुम बारहवें जिन होगे" इस बात को सुनकर कृष्ण जी हर्षित होकर नाचने लगे तथा सिंहनाद करने लगे ।।१।।

इन्हें द्रव्यजित जान कर किसी साधु साध्वी वा श्रावक श्राविका ने वन्दन नहीं किया, तो समझ लेना चाहिये कि द्रव्य निक्षेप वन्दनीय कैसे हो सकता है ?

किञ्च—ठाणाङ्ग के नवें ठाणे में यह वर्णन है कि —

श्री महावीर स्वामी ने श्रेणिक राजा से यह फरमाया कि "तुम मेरे समान प्रथम जिन होगे, मेरे समान ही तुम मरूपणा करोगे" भगवान् के ऐसा कहने पर भी किसी साधु साध्वी वा श्रावक श्राविका ने श्रेणिक राजा को वन्दना नहीं की थी। ज्ञाता जी के आठवें अध्ययन में यह वर्णन है कि "मल्लिनाथ भगवान् तीन ज्ञानों से युक्त हैं तथा

क्षायिक सम्यक्त्व से युक्त हैं," अब बतलाओ कि ऐसा होने पर भी अरणक श्रावक ने उन्हें वन्दना क्यो नहीं की थी ?

इस से सिद्ध हो गया कि द्रव्य निक्षेप वन्दनीय नही है किन्तु सब निक्षेपों में से भाव निक्षेप ही वन्दनीय है।

(प्रश्न) मूर्ति पूजक लोग कहते हैं कि "ज्ञाता सूत्र में १६ वें अध्ययन में द्रौपदी के प्रतिमा पूजन का वर्णन है" क्या यह बात ठीक है ?

(उत्तर) सुनो ! प्रथम तो उस समय द्रौपदी मिथ्यात्विनी थी, क्योंकि उसने नियाणा किया था, नियाणे की पूर्त्ति के विना सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं हो सकती है, फिर देखो ! वहां "जिन-घर" का पाठ है, सो जिनराज के तो घर होता ही नही है, यदि जिनराज के भी घर हो तो वास्तव में वे जिन ही नही हो सकते हैं, इसके अतिरिक्त-द्रौपदी के माता पिता भी मिथ्यात्त्वी थे, तो द्रौपदीका मिथ्यात्विनी होना सर्वथा सिद्ध ही है, वह जिन प्रतिमा को पूज ही नही सकती है।

(प्रश्न) द्रौपदी के पिता द्रुपद राजा मिथ्यात्त्वी थे, यह कैसे निश्चय होता है ?

(उत्तर) इस बात का प्रमाण तो सूत्र में विद्यमान है, देखो ! यदि वह जिनमार्गी होता तो मांस का आहार स्वयंवर मे कैसे बनवाता ? देखो:—

सूत्रपाठ-विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं सुरं च मज्जंच महु च मंसं च सिधू च पसन्नं च सुबहु पुप्फ वंधगं धम्मिलालंकारं च ॥१॥

अब विचार लो कि जो सम्यक् दृष्टि होता तो उस के घर में मद्य मांस आदि के होने का क्या काम था ?

फिर देखो कि कोणिक राजा ने तथा श्रेणिक राजाने भगवान् को किस प्रकार से वन्दना की थी, कहो उन्होंने सावद्य पूजन को क्यों नहीं किया ? क्या वे ऐसा करना नहीं जाते थे ?

फिर देखो! सूर्याभदेव, द्रौपदी, भद्रासार्थवाही तथा भरतेश्वर, इन चारों का प्रतिमा पूजन एक समान पाया जाता है अर्थात् मोरपिच्छी से पूजन, स्नान कराना, चदन लगाना, वस्त्र पहिराना सुगधद्रव्य का लगाना, फल, फूल, माला, चूर्ण, वस्त्र और आभूषण, इन पाच पदार्थों का सन्मुख चढाना, चावलों के आठ माङ्गलिकों का बनाना तथा धूप का खेना, इत्यादि सब कार्य सबने समान ही किया है, तात्पर्य यह है कि सूर्याभदेव ने जिस प्रकार पूर्वोक्त कार्यों को किया उसी प्रकार द्रौपदी ने भी किया, उसी प्रकार भद्रा ने यत्त के आगे किया तथा भरतेश्वर ने चक्र के आगे किया, कहो किस पद्धति के अनुसार सब ने पूर्वोक्त एक सी ही पूजा की थी?

मूर्त्तिपजक लोग जिन प्रतिमा को जिन समाना कहते हैं, उनसे कहना चाहिये कि प्रतिमा से तो अनन्त गुणों के धारक भगवान् थे तो उनकी इस पूर्वोक्त रीति से सावद्य पूजा क्यों नहीं की थी, इसका उत्तर दो, देखो! द्रौपदी ने जो प्रतिमा का पूजन किया था वह भगवान् की प्रतिमा नहीं की,थी, क्योंकि जो आरम्भ और परिग्रह के सहित है वह अवधि ज्ञानी या विभङ्ग ज्ञानी जिन की हो सकती है, ठाणाङ्ग सूत्र के तीसरे ठाणे में तीन प्रकार के जिन बतलाये हैं, सूत्र पाठ इस प्रकार है —

तओ जिणा पन्नता तजहा-ओहीनाणजिणा, मणपज्जवनाणजिणा, केवलनाण जिणा, तवो केवली पन्नत्ता, तजहा ओहीनाण केवली, मणपज्जवनाण केवली, केवलनाण केवली तओ अरहा पन्नत्ता, सजहा-ओही नाण अरहा मणपज्जपनाण अरहा, केवलनाण अरहा॥१॥

अर्थ—तीन प्रकार के जिन कहे गये हैं, तद्यथा अवधि ज्ञानी जिन, मन पर्याय ज्ञानी जिन तथा केवल ज्ञानी जिन, तीन प्रकार के केवली कहे गये हैं, तद्यथा अवधि ज्ञानी केवली, मन पर्याय ज्ञानी केवली,

तथा केवल ज्ञानी केवली, तीन प्रकार के अर्हद् कहे गये हैं, तद्यथा अवधिज्ञानी अर्हद्, मनः पर्यायज्ञानी अर्हद् और केवलज्ञानी अर्हद् ॥१॥

पूर्वोक्त पाठ में अवधि ज्ञानी को भी जिन, केवली और अर्हद् कहा गया है, सम्भव है कि वह प्रतिमा ऐसे ही जिनकी हो, क्योंकि केवल ज्ञानी जिन, केवल ज्ञानी केवली और केवल ज्ञानी अर्हद् को तो सचित्त पदार्थ पुष्प, चंदन विलेपन तथा धूप दीप आदि पांच इन्द्रियों का भोग कल्पता ही नहीं है, क्योंकि पूर्वोक्त जिन केवली अर्हद् जिस दिन अगारत्त्व को छोड़ कर अनगारत्त्व का ग्रहण करते हैं उसी दिन से सर्व वस्तुओं का त्याग कर देते हैं फिर यह भी उन से हमारा प्रश्न है कि–द्रौपदी के समान यदि अन्य किसी श्रावक वा राजा महाराजा ने प्रतिमा पूजन कर भक्ति की हो तो सूत्र के मूल पाठ का प्रमाण देकर वतलाओ तो हम भी उसे स्वीकार करें।

रायपसेणी सूत्र में तीन प्रकार के आचार्य वतलाये हैं:—कलाचार्य, शिल्पाचार्य और धर्माचार्य, इन में से पहिले दो आचार्यों की भक्ति तो यह वतलाई है कि इनकी स्नान, भोजन, पुष्प, फल, वस्त्र, आभूषण और धन, इनके देने के द्वारा भक्ति करनी चाहिये, किन्तु धर्माचार्य की भक्ति में तो ऊपर कही वातों का निषेध किया गया है, उनकी भक्ति में तो केवल वन्दना करना और १४ प्रकार के निर्दोष आहार आदि का देना कहा गया है, अतः मूर्ति पूजक लोग यदि प्रतिमा को नमूना रूप मानते हैं तो उनसे यही कहा जा सकता है कि त्यागी का नमूना त्यागी हो सकता है, जैसे कि चांवल का नमूना चांवल ही होता है किन्तु ज्वार नहीं होता है, फिर प्रतिमा को त्यागी का नमूना मान कर क्यों उसकी सावद्य पूजा करते हो ? क्यों भोले जीवों को वहकाते हो तथा क्यों अनन्त संसार की वृद्धि करते हो ?

सोचने की वात है कि—प्रतिमा पूजक लोग प्रतिमा को यदि आभूषण धारण कराते हैं और यदि कपड़ा नहीं पहिराते हैं तो उनकी

भक्ति अधूरी ही है, उन्हें प्रतिमा को कपडे भी पहिराने चाहियें, कि जिस से उनकी भक्ति पूरी हो, अरे भोले जीवों को कहा तक समझावें।

(प्रश्न) "जिन प्रतिमा" शब्द से तो भगवान् की ही प्रतिमा (मूर्ति) का बोध होता है, फिर आप जिन शब्द को केवल अरिहन्तवाचक क्यों नहीं मानते हैं ?

(उत्तर) इस विषय में प्रथम ही कहा जा चुका है कि अवधि ज्ञानी जिन की प्रतिमा का होना सम्भव है फिर जो कुछ हो, जिन प्रतिमा शब्द के देखने मात्र से मूर्ति पूजा कहाँ से सिद्ध होती है ? इसके अतिरिक्त जिन शब्द के अनेक अर्थ हैं, देखो ! जिन शब्द तीर्थङ्कर सामान्य केवली, अवधि ज्ञानी, मन पर्याय ज्ञानी, एकादश गुण स्थानी, चतुर्दश पूर्व धारी, दशपूर्वधारी, कन्दर्प तथा नारायण, इत्यादि अनेक अर्थों का वाचक है।

(प्रश्न) कन्दर्प का भी वाचक जिन शब्द है, इस विषय में किसी ग्रन्थ का प्रमाण दीजिये।

(उत्तर) लीजिये, श्री हेमाचार्य कृत हैमीनाममाला अनेकार्थ संग्रह में यह श्लोक है कि —

वीतरागो जिनश्चैव, जिनः सामान्य केवली।
कन्दर्पश्च जिन. ख्यातः, जिनो नारायणस्तथा॥१॥

अर्थ जिन शब्द वीतराग का वाचक है, जिनशब्द सामान्य केवली का वाचक है, जिन शब्द कन्दर्प का वाचक है तथा जिन शब्द नारायण का वाचक है ॥ १ ॥

इस विषय में यह समझ लेना चाहिये कि घनघाती कर्मों का विजय करने से अरिहन्त और केवली का नाम जिन है, सर्व जीवों को जीतने से कन्दर्प का नाम जिन है तथा अपनी भुजाओं के बल से तीन खण्डों के जीतने के कारण वासुदेव का नाम जिन है, इसके

अतिरिक्त जिन शब्द के और भी अनेक अर्थ हैं, उनको प्रसंगानुसार जान लेना चाहिये। द्रौपदी के विषय में तो यह जान लेना चाहिये कि विवाह के अवसर पर तीव्र मोहनीय के उदय से पति की वाञ्छा से उसने अवधि ज्ञानी जिन की पूजा की।

(प्रश्न) पूजा के अनन्तर द्रौपदी ने "नमोत्थुणं" का पाठ कहा था, तो उक्त पाठ मे जिन देव के जिन २ गुणो का कथन किया गया है, वे गुण अवधि ज्ञानी जिन मे घटित नही होते हैं, फिर हम इस बात को कैसे मानलें कि—द्रौपदी ने अवधि ज्ञानी जिन की प्रतिमा का पूजन किया ?

(उत्तर) यह तो ठीक है कि "नमोत्थुणं" पाठ में वर्णित गुण अवधि ज्ञानी में घटित नही होते हैं, परन्तु अल्पज्ञ जीव जो अर्हद् नही है उसे भी अर्हद् रूप मान लेते हैं, लोक में अतद्रूप में भी तद्रूपता का व्यवहार देखा जा है, जैसे लुब्ध मनुष्य धनिक से कहते हैं कि आप तो हमारे लिये ईश्वर हैं इत्यादि, इस के अतिरिक्त सूत्र ग्रन्थों में भी अतद्रूप में तद्रूपता के व्यवहार का वर्णन अनेक स्थानों में आया है, देखो ! भगवती सूत्र के आठवें शतक के पॉचवें उद्देशक में गोशाल के श्रावकों का वर्णन किया गया है पाठ यह है कि—

इच्चेते दुवालस आजीव उवासगा-
अम्मापिउसुसुगा अरिहन्त देवतगा ॥ १ ॥

इस पाठ मे कहा गया है कि—गोशाल के बारह उपासक थे, वे माता पिता के समान गोशाल की सुश्रूषा करते थे तथा आनन्द श्रावक के तुल्य वे गोशाल की अरिहन्तवत् भक्ति करते थे, बस जान लेना चाहिये कि आजीविक (गोशाल) मतानुयायियो के लिए गोशाल ही अरिहन्त था, इसी प्रकार से द्रौपदी ने भी अवधि ज्ञानी जिन को केवली जिन वा अरिहन्त जान कर "नमोत्थुणं" का पाठ पढ़ा है।

भगवती सूत्र के पन्द्रहवें शतक में मेखली पुत्र गोशाल की श्रावस्ती नगरी में स्थिति का यह वर्णन है —

अजिणा जिणपलावी अणअरहा अरहा पलावी अकेवली केवली पालावी असव्वन्नुणु सव्वन्नुणु पलावी। १॥

देखो उक्त पाठ में अजिन, अनर्हत् अकेवली और असर्वज्ञ गोशाल को जिन, अर्हत्, केवली और सर्वज्ञ के कथन का वर्णन है, जो जिसे जिन, केवली और अर्हत् मानता है, वह उसके आगे नमोत्थुण का पाठ अवश्य ही बोलता है, गोशाल के श्रावक भी जब प्रतिक्रमण करते थे तब वे गोशाल के उद्देश्य से 'नमोत्थुण" कहते ही थे।

भगवती सूत्र के १५ वें शतक में यह पाठ है कि—

एवं खलु मम धम्मा परिए, धम्मो वएसए, गोसालो मेखलीयुते उथन्नाणदसणधरे जावसव्वन्नू सव्वदरिसी इहेव सावत्थी नयरीए हालाहाल कुम्भ कारिए, कुभ काराषणसी, आजीवग संघसंपरिवुडे, आजीविए समएण अप्पाण भावे मासे विहरइ ॥ १ ॥

इस पूर्वोक्त सूत्र म गोशाल को धर्म्माचार्य, धर्मोपदेशक, ज्ञान-दर्शन धारक, सर्वज्ञ तथा सर्वदर्शी कहा गया है, इसी प्रकार से द्रौपदी के अधिकार मे अवधि ज्ञानी जिन के विषय में जान लेना चाहिये।

किञ्च—मूर्त्तिपूजक जनों से हमारा यह प्रश्न है कि आप लोग जिन प्रतिमा को यदि जिन समान मानते हैं तो जिन राज का स्पर्श स्त्री कैसे कर सकती है, क्योंकि आचाराङ्ग प्रश्न व्याकरण तथा समवायाङ्ग में स्त्री स्पर्श का निषेध किया गया है, तात्पर्य यह है कि मूर्त्ति का स्पर्श स्त्री कैसे कर सकती है ?

ओहो! जगत् के भूषण तथा त्रिलोकीनाथ की मूर्त्ति का स्पर्श स्त्री करे, यह कैसे आश्चर्य की बात है, देखो! भगवती सूत्र म यह

वर्णन है कि देवानन्दा ब्राह्मणी जब भगवान् को वन्दना करने के लिये आई, तब देखकर पुत्रस्नेह के कारण उन के स्तनो में दूध आ गया, परन्तु देखो कि इतना होने पर भी उस ने उन का स्पर्श तो नहीं किया।

इसी प्रकार जब देवकी अपने साधु वेषधारी छः पुत्रों को वन्दना करने के लिये गई तब उस के स्तनों में दूध भर आया तथा दुग्ध की धारा सम्मुख गई, इतना होने पर भी उसने साधु का स्पर्श तो नही किया, स्त्री का तो कहना ही क्या है किन्तु बड़े २ राजा।महाराजा कोणिक आदि ने भी भगवान् के समवसरण में उनकी वन्दना नाति-दूर व नातिसमीप से की है अर्थात् पुरुषों ने भी स्पर्श नहीं किया है, यदि किया हो तो बतलाओ।

आपही के आचार्य गन्धहस्ती जी ने ओघनिर्युक्ति की टीका में लिखा है कि "इत्थीजणसंघट्टं तिविहं तिविहेण वज्जएसाहू" अर्थात् साधु को उचित है कि वह त्रिविध स्त्री जन संघट्ट को मन, वचन और काय से त्याग दे। द्रौपदी के पूजन में तो पाठ है कि "लोमहत्थेण परामुसइ, लोमहत्थेण परामिट्ठा, परिमाज्जइ" अर्थात् "लोमहस्त से परिमर्शन किया, लोमहस्त से परिमर्शन कर परिमार्जन किया" अब कहो कि परिमार्जन करने से उसे जिन स्पर्श हुआ वा नहीं; तथा स्त्री के स्पर्श से जिनकी आशातना हुई वा नहीं ? आशातना से सम्यक्त्व का अभाव हुआ वा नही ? यदि सम्यक्त्व का अभाव हुआ तो द्रौपदी सम्यक्त्व धारणी कैसे कही जा सकती है ?

किंच—गन्धहस्वाचार्य ने ही ओघनिर्युक्ति की प्राचीन टीका में लिखा है कि—"नृपपुत्री-द्रौपदी ने नियाणा किया था, एक पुत्र उत्पन्न होने के पश्चात् साधु के पास उसने सम्यक्त्व मार्ग का ग्रहण किया था।"

(प्रश्न) मूर्ति पूजक लोग कहते हैं कि—"देवता देवलोक में प्रतिमा का पूजन करते हैं" क्या यह ठीक है ?

(उत्तर) यह तो उनका जीत व्यवहार है, भव्य देवता, अभव्य देवता, सम्यग्दृष्टि देवता तथा मिथ्यात्वी देवता, इन सबको ही सूर्याभ के समान जानना चाहिये, तात्पर्य यह है कि यह तो देवता का जीत कर्त्तव्य है, श्री भगवती सूत्र में देवता को "नोधम्मा" कहा है, इसी प्रकार अन्यत्र भी अनेक वाक्य हैं, देखो ! भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष्क, वैमानिक तथा ग्रैवेयक तक के जीव पृथिवीकाय से लेकर वनस्पतिकाय तक अथवा देवी देवत्व रूप में अनन्त वार उत्पन्न हुए हैं परन्तु ज्ञान दर्शन और चारित्र के विना जीव का उद्देश्य सिद्ध नहीं हुआ है, और न पांच अनुत्तर विमानों में ही देवस्वरूप से अनन्तवार उत्पन्न हुए हैं, यह जान लेना चाहिये, फिर देखो ! सम्यग्दृष्टि देवों का सिद्धायतन, और मिथ्यात्वी देवों के हरि हर और ब्रह्मा आदि के मन्दिर भिन्न २ नहीं कहे गये हैं किन्तु सब के लिये एक ही सिद्धायतन कहा गया है, फिर इसका पूजना धर्माचरण में नहीं कहा है, यदि किसी शास्त्र में कहा हो तो बतलावें ।

(प्रश्न) सूर्याभ देव ने यदि तीर्थङ्कर की प्रतिमा का पूजन नहीं किया तो किसकी प्रतिमा का पूजन किया ?

(उत्तर) सूर्याभ देव ने यदि तीर्थङ्कर की प्रतिमा का पूजन किया तो उस प्रतिमा में भगवान् से पृथक् डाढी, स्तन, मयूरपिच्छ, नागभूतपरिवार, वस्त्रपरिधान, आभूषणपरिधान तथा स्त्रीसपट्ट, ये सब लक्षण भिन्न और विपरीत क्यों हैं ?

(प्रश्न) वहां तो यह पाठ स्पष्ट है—"धूवदाणं जिनवराणं" यदि जिनवर की प्रतिमा न होती तो ऐसा पाठ क्यों रक्खा जाता ?

(उत्तर) यदि जिनवरों को धूप दीप की अभिलाषा थी तो सूर्याभ देवने उनको साक्षात् धूप दीप क्यों नहीं दिया ?

(प्रश्न) यदि जिनवर की प्रतिमा नहीं थी तो सूर्याभ देवने उसके आगे "नमोत्थुणं" का पाठ क्यों बोला ?

(उत्तर) नमोत्थुणं का उच्चारण करना धर्म क्रिया नहीं है, किन्तु लौकिक व्यवहार है, देखो ! किसी देवी देवताने साक्षात् में तो भगवान् को "नमोत्थुणं" कह कर वन्दना नही की थी, यदि की हो और किसी सूत्र में पाठ हो तो बतलाओ ? हां एक कल्पसूत्र में पाठ है वह भी द्रव्य तीर्थङ्कर की अपेक्षा से है, और किसी माननीय सूत्र में इस विषय का कहीं भी पाठ नहीं है ।

(प्रश्न) आप माननीय सूत्र किसको कहते हैं ?
देखो—

**"सुत्तं गणहररइयं तहेव पत्तेयबुद्धरइयं च ।
सूयं केवलिणा रइयं अभिन्नदस पुव्विणा रइयं" ॥१॥**

इस वाक्य के अनुसार गणधर, प्रत्येक बुद्ध, केवली तथा अभिन्नदश पूर्वी का कहा हुआ वचन सूत्र कहलाता है, क्या आप भी इस बात को मानते हैं वा नहीं ?

(उत्तर) हां यह तुम्हारा कथन ठीक है, और ऐसा तो हम भी मानते हैं, परन्तु तुम लोग जो अपूर्वधारी के कहे हुए वचन को सूत्र मान कर उक्त वाक्य का अनुसरण नहीं करते हो, यह क्या बात है ? दिवाली कल्प, शत्रुञ्जयमाहात्म्य, सन्देह दोलावली, सङ्घाचार, विवेक विलास, भरतेश्वर वृत्ति, योगशास्त्र, कल्प किरणावली तथा अनेक सिद्धान्तों पर निर्मित संस्कृत टीकायें, ये सब तो पूर्वधारी कृत नहीं हैं, फिर इनको प्रामाणिक और माननीय क्यों समझते हो ? इनमे तो अनेक बातें अप्रमाण रूप तथा सूत्र को बाधा पहुँचाने वाली हैं, देखो पूर्वधारियों का जो वचन है वह यथार्थ है किञ्च प्रमाण उस वाक्य का माना जाता है कि जो केवली के वचन के आश्रय से कहा गया हो, उपयोग सहित हो तथा मूलसूत्र से जिसमें विसंवाद न आता हो, क्योंकि पूर्वोक्त वचन सर्वथा सन्देह रहित होता है, देखो ! टीकाकारों को भी जब किसी विषय मे सन्देह रहता है तो वे कहते हैं कि "इसका तत्त्व तो केवली गम्य है", बात यह है कि टीका की रचना भगवान् के

सामने नहीं हुई थी, पूर्वधारी का वाक्य भी शङ्कास्पद होता है, देखो! श्रीतीर्थङ्कर महाराज भी जब तक केवलज्ञान उत्पन्न नहीं होता है तब तक सूत्र की प्ररूपणा नहीं करते हैं, क्योंकि तीर्थङ्कर में छद्मस्थावस्था में नौ योग होते हैं, चार मन के, चार वचन के तथा औदारिक, अत असत्य के भय से वे उस अवस्था में सूत्र की प्ररूपणा नहीं करते हैं, देखो। धर्मघोष आचार्य पूर्वधारी थे, उन्होंने नाग श्री की अवहेलना कराई थी, यह छद्मस्थपन की भूल थी, सुमङ्गल साधु अवधिज्ञानी थे, उन्होंने चार घोड़ों को, रथ के सारथि को तथा विमल वाहन राजा को अर्थात् इन छ जीवों को जला कर भस्म कर दिया था, यह छद्मस्थपन की भूल थी, केशी स्वामी पूर्वधर थे, उन्होंने प्रदेशी राजा को जड और मूर्ख कहा था यह भी उनकी भूल थी, श्रीगौतम स्वामी ने आनन्द श्रावक के अवधिज्ञान पर श्रद्धा नहीं की थी, मोटा और मृगालोढ़ा को देखने के लिये गये तथा खन्धक सन्यासी के सामने गये, यह छद्मस्थपन की भूल थी, इत्यादि छद्मस्थपन की भूलें दश वैकालिक सूत्र के आठवें अध्ययन में कहीं हैं।

आयारपन्नत्ती धर दिट्ठि वायमहिज्जग।
वायविखलय नचा नत उवहसे मुणी ॥१॥

इस वाक्य के अनुसार आचाराङ्ग से लेकर दृष्टिवाद तक का ज्ञाता पुरुष यदि वचन बोलते समय भूल करे तो उसका उपहास नहीं करना चाहिये, क्योंकि छद्मस्थावस्था में भूल का होना नितान्त सम्भव है।

शिष्य—पूर्वधर को जो "अजिणाजिण सकासा जिणा इव अवितह वागरणेमाणा" इस वाक्य में जिन तुल्य तथा अवितथ वाक्यवक्ता कहा है, यह सत्य है, परन्तु उक्त वाक्य का वास्तविक भाव यह है कि यदि पूर्वधारी केवली के कथित तथा विज्ञात पदार्थों की धारणा कर उपयोग सहित वाक्य को बोले तो उसे जिन सदृश समझना चाहिये।

इसमें रात्रि भोजन का सर्वथा निषेध किया है, परंतु वृहत् कल्प की टीका में तथा चूर्णि में साधु को रात्रि भोजन करने के लिये कहा है, कहिये विरोध है वा नहीं ?

७—भगवती सूत्र के आठवें शतक के नवें उद्देशक में कृत वस्तु की स्थिति संख्यात काल की कही है, तो अष्टापद का विम्ब असंख्यात् काल तक कैसे रह सकता है, यदि ऐसा हो तो सूत्रसे विरोध आता है वा नहीं ?

८—भगवती सूत्र में श्री महावीर स्वामी के ७०० केवली कहे हैं तथा प्रकरणों में १५०० केवली तापसों को भी कहा है, कहिये विरोध है वा नहीं ?

९—शास्त्र में साधु और साध्वी के लिये मोल के द्वारा आया हुआ पदार्थ अकल्पनीय कहा है परन्तु प्रकरण ग्रन्थों में सात क्षेत्रों में साधु और साध्वियों को गिना है तथा उनके लिये धन कढ़ाना कहा है, कहिये विरोध है वा नहीं ?

१०—भगवती सूत्र के बीसवें शतक के सातवें उद्देशक में चार समय की विग्रहगति कही है, परन्तु प्रकरणों में पांच समय की स्थिति कही है, कहिये विरोध है वा नहीं ?

११—वृत्तिकल्प की चूर्णिका में साधु के लिये कुशील सेवन कहा है, परन्तु ठाणांग के दूसरे ठाणे में शील को रखने के लिये आत्मघात करना कहा है, कहिये विरोध है वा नहीं ?

१२—प्रकरणो में कहा है कि कपिल केवली ने भील चोर के सामने नाटक किया था, यह बात शास्त्रविरुद्ध है वा नही ?

१३—दश वैकालिक में साधु को वेश्या के पाड़े में जाने का निषेध किया है, अन्य ग्रन्थों में कहा है कि स्थूलभद्रजी ने वेश्या की त्रशाला में चौमासा किया था, कहिये शास्त्र विरुद्ध है वा नहीं ?

१४—शास्त्र में मनुष्य का जन्म एक वार में एक योनि में होना कहा है; परन्तु अन्य ग्रन्थों में लिखा है कि सगर चक्री

के साठ हजार पुत्र एक दम उत्पन्न हुए, कहिये शास्त्र विरुद्ध है वा नहीं ?

१५—शास्त्रीय सिद्धान्त है कि शास्वती पृथिवी का दल उतरता नहीं है, परन्तु प्रकरणों में कहा है कि भवनपति में गगा का प्रवाह डाला गया, कहिये विरोध है वा नहीं ?

१६—उपवास में जल के पीने तथा अन्य द्रव्य लेने का निषेध किया गया है, परन्तु अन्य ग्रन्थों में हरड़, तमाखू आवला, बावलिय तथा अनार का छिलका (छोडा), इन सबको अनाहार रूप कहा है, कहिये विरोध है वा नहीं ?

१७—शास्त्रीय सिद्धान्त है कि जिन मार्गी जीव नरक में जाने की भी इच्छा नहीं करते हैं, परन्तु अन्य प्रकरणों में यह कहा है कि कोणिक राजा ने सप्तम नरक में जाने के लिये झूठा रत्न बनाया था, क्या सम्यक्त्वी जीव भगवान् के वचन का उल्लंघन करते हैं ? और तेरहवें चक्री बनाने की इच्छा कर सकते हैं ? कहिये विरोध है वा नहीं ?

१८—सूत्र में चौबीस तीर्थङ्करों को वन्दनीय कहा है, परन्तु विवेक विलास में कहा है कि घर में २१ तीर्थङ्करों की प्रतिमा की स्थापना करनी चाहिये किन्तु मल्लिनाथ, नेमनाथ और महावीर, इनकी प्रतिमा की स्थापना नहीं करना चाहिये, कारण यह बतलाया गया है कि ये तानों निःपुत्र थे, कहिये शास्त्र से विरोध है वा नहीं ?

इस प्रकार से हजारों मन कल्पित वाक्य हैं कि जिनमें शास्त्रों से विरोध आता है, फिर वे माननीय कैसे हो सकते हैं ? शास्त्रों में अनेक श्रावक और श्राविकाओं का वर्णन आया है परन्तु प्रतिमा पूजनादि विषय किसी के अधिकार में उल्लिखित नहीं है, देखो। आचाराङ्ग में सिद्धार्थ राजा और त्रिशला रानी का वर्णन है, सूत्रकृताङ्ग में लेप गाथा पति का वर्णन है, स्थानाङ्ग में सुलसा का वर्णन है, भगवती में तुंगिया नगरी के श्रावक सुदर्शन सेठ सखापोखली, उदाई

राजा अभीचकुमार, कार्तिक सेठ, मराडूक श्रावक, सोमल ब्राह्मण तथा वर्णनाग, इत्यादि का वर्णन है, ज्ञाता में सेलक राजा, पन्थक प्रधान आदि पांच सौ मित्र, अरणक श्रावक, कुम्भराजा प्रभावती रानी, जितशत्रु राजा सुविधि प्रधान नन्दन मणिहार, तेतली प्रधान तथा पुण्डरीक राजा का वर्णन है, उपासक दशा में आनन्द आदि दश श्रावकों का वर्णन है, अन्तगड़ में सुदर्शन श्रावक का वर्णन है, विपाक में सुवाहु कुमार, भद्रनन्दी कुमार, सुजात कुमार, सुवास कुमार, जिनदास कुमार, वैश्रमण कुमार, महाबल कुमार, भद्रनन्दी कुमार, महाचन्द्र कुमार तथा वरदत्त कुमार का वर्णन है, उवाई जी में अम्बड़ श्रावक तथा सात सौ शिष्यों का वर्णन है, रायपसेणी में प्रदेशी राजा तथा चितसारथि का वर्णन है, जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति में श्रेयांस कुमार का वर्णन है, निरयावलिका में सोमल ब्राह्मण तथा निषध कुमार आदि पोटिला श्राविका, सुभद्रा. उत्पला, जयन्ती और मृगावती, इत्यादि अनेक श्रावक और श्राविकाओं का वर्णन है, इनके अतिरिक्त भरत, वाहुबल, श्रेयांस, कृष्ण वासुदेव, श्रेणिक राजा, कोणिक राजा तथा पाण्डव आदि अनेक महाराज हो गये हैं जो जिनमार्गावलम्बी थे, तीर्थङ्करों के गाढ़ भक्त थे, धर्म के नेता थे, साधुओं को दान देने वाले थे, इनमें से किसी ने संयम लिया, किसी ने श्रावक प्रतिमा का अङ्गीकार किया तथा किसी ने सामायिक संवर किया, इत्यादि सब विषयों का वर्णन सूत्रों में है, परन्तु द्रव्य का व्यय करके किसी ने मन्दिर वनवाया हो, पूजा की हो और करवाई हो तथा सङ्घ निकाला हो तो वतलाओ ? सूत्र में इन वातों का कहीं भी कुछ भी उल्लेख हो तो हम मानने को तैयार हैं, किन्तु मनः कल्पित विपय को कभी कोई वुद्धिमान् मान नही सकता है, क्योंकि सूत्रविरुद्ध भाषण करने से तथा उसे मानने से अनन्त संसार का वन्धन होता है, अतः प्रत्येक वुद्धिमान् का यह कर्त्तव्य है कि वह सूत्र वचन का प्रमाण करे, इसी से उसका निस्तार हो सकता है ।

इस लेख में यदि कुछ शास्त्र विरुद्ध लिखा गया हो तो "मिच्छामि दुक्कड"।

(प्रश्न) अब हम आप से कतिपय प्रश्न दिगम्बर मत सम्बन्ध में करना चाहते हैं।

(उत्तर) प्रसन्नतापूर्वक प्रश्न करो, हम उत्तर देने को तैयार हैं।

(प्रश्न) ये लोग किस शास्त्र को मानते हैं ?

(उत्तर) ये लोग रत्नकाण्ड श्रावकाचार को शास्त्र मानते हैं।

(प्रश्न) इनके शास्त्र में श्वेताम्बर मत के विषय में क्या कुछ विवेचना की गई है।

(उत्तर) जी हाँ, इनके शास्त्र में श्वेताम्बर मत की विवेचना तो क्या किन्तु बहुत सी निन्दा की गई है। तथा यहां तक कठोर शब्दों का प्रयोग किया गया है कि—'श्वेताम्बर साधु अभक्ष्य के भागी होते हैं तथा स्त्री भोग भी कर लेते हैं", कटाक्ष करते हुए यह भी लिखा है कि "यदि साधु का मन कुशील सेवन की ओर डिग जावे तो श्रावक को चाहिये कि अपनी स्त्री को भेज कर उसकी तुष्टि करे" हा, हा! बड़े आश्चर्य की बात है, जिस विषय में वे लोग कटाक्ष कर इतना कटु वचन का प्रयोग करते हैं उस विषय का जैन सिद्धान्त में लेश मात्र भी नहीं है, यह मानी हुई बात है कि जब साधु का चौथा महाव्रत नष्ट हो गया तो पांचों का ही नष्ट होना सिद्ध है, क्योंकि पंच महाव्रत मूल रूप हैं उनमें से एक का नाश होने से शेष सब ही अकिञ्चित्कर हो जाते हैं जब सब ही व्यर्थरूप हो गये तो फिर वह साधु ही काहे का ? देखो[1] दश वैकालिक सूत्र के दूसरे अध्ययन की यह दूसरी गाथा है कि—

वत्थगंधमलंकारं इत्थिओ सयणाणि य ।
अच्छंदा जेन भुंजंति न से चाइ त्ति वुच्चइ ॥१॥

१—देखो मेरा भूमिका का लेख (सम्पादक)।

अर्थात् जो पुरुष परवश होकर वस्त्र, गन्ध, अलङ्कार, स्त्री और शयन का भोग नहीं करता है, वह त्यागी नहीं कहा जा सकता है ॥१॥

उक्त वाक्य का तात्पर्य यह है कि जिस साधु का वस्त्रादि के भोग में चित्त तो रहता है, परन्तु पराधीनता के कारण उसका भोग करने में असमर्थ है, उसे त्यागी नहीं माना जा सकता है, देखो ! जब शास्त्र में ऐसा कहा गया है कि मन के डिगने से भी साधुता जाती रहती है तो भला उन लोगों का कथित विषय कैसे सम्भावित हो सकता है ?

मालूम होता है कि किसी महा मूर्ख ने उन्मादावस्था में ऐसा लिख मारा है, यदि हमारे शास्त्रों में कहीं भी उक्त विषय लिखा हो तो दिगम्बरी जन हमारे सामने आकर शास्त्रार्थ करलें, हम शास्त्रीय मन्तव्य के अनुसार उत्तर देने को तैयार हैं।

दिगम्बर मत के ज्ञानार्णजीव तथा क्रिया कोष में श्रावक का वर्णन किया है, उसमें त्रिकाल सामायिक का करना लिखा है, दो घड़ी की जघन्य सामायिक, चार घड़ी की मध्यम सामायिक तथा छः घड़ी की उत्कृष्ट सामायिक बतलाई है, उसे तो दिगम्बर जानते भी नहीं हैं; करना तो दूर की बात है।

इनके ग्रन्थ गोमट सार में सात प्रकार के प्रतिक्रमण कहे गये हैं—रायसी, देवसी, पक्खी, चौमासी और संवत्सरी आदि, षट् आवश्यक और बारह व्रतो के स्थान में तो उनके यहां शून्य है, कहना अनुचित नहीं होगा कि उनके यहाँ सम्यग् दृष्टित्व तो शशविषाण वत् हो रहा है, क्योंकि सम्यक्त्वी का प्रथम लक्षण समभाव का धारण करना है, वह तो उनके यहां खपुष्प की समानता को पहुँचा हुआ है। सर्व सम्मत विषय है कि धार्मिक प्रवाह समत्त्वरूप स्रोत का अनुयायी है, अर्थात् समत्त्वरूप स्रोत के बिना धार्मिक प्रवाह कदापि नहीं हो सकता है, अतएव जैन मत में तो क्या किन्तु सर्व मतानुयायिजनों ने भी धर्म

पालन के लिये समत्व को प्रथम साधन माना है, देखो! गीता के पाचवें अध्याय में यह अठारहवा श्लोक है —

विद्याविनय सम्पन्ने, ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च, पण्डिताः समदर्शिनः ॥१॥

अर्थात्—विद्या और विनय से युक्त ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ता और चाण्डाल, इन सबमें ज्ञानी पुरुष समदर्शी होते हैं ॥१॥

ऐसी दशा में जैन धर्मानुयायी होकर ममता का स्थान न लेना, यह कैसे आश्चर्य का विषय है, शोक है—

जैन धर्म को मान कर, धरते मान कषाय।
अचरज हमको होत है, जल मे लागी लाय ॥१॥

कहते दु ख होता है कि इस पञ्चमकाल कलियुग मे अनेक पाखण्ड प्रचरित हो रहे हैं तथा सत्य शास्त्रों को ताक में रख कर लोग अपनी २ गाते हैं।

(प्रश्न) दिगम्बर मतानुयायी कहते हैं कि "यदि तुषमात्र भी परिग्रह रक्खे तो साधु नहीं हो सकता है" क्या यह ठीक बात है?

(उत्तर)-हाँ यह ठीक बात है कि परिग्रह रखनेवाला पुरुष साधु नहीं हो सकता है, क्योंकि सर्वविरती और त्यागी होना ही साधुता है परन्तु यह समझना आवश्यक है कि परिग्रह किसे कहते हैं, देखो संसर्गमात्र का नाम परिग्रह नहीं है, किन्तु मूर्च्छा (आसक्ति) का नाम परिग्रह है, कहा भी है कि "मुच्छा परिग्गहो वुत्तो" इसलिये उपाधि का संसर्ग परिग्रह नहीं हो सकता है कमडलु और मयूरपिच्छ का संसर्ग होने से दिगम्बर साधु भी साधु नहीं हो सकते हैं, वास्तव मे भावतया त्याग की आवश्यकता है, इसलिये दिगम्बरों से हमारा यह कथन है कि—

द्रव्य दिगम्बर मत धनो, भाव दिगम्बर होय।
सत्य साधुपन पाइ जग, अष्ट कर्म को खोय ॥१॥

तात्पर्य यह है कि अन्तः परिग्रह के त्याग के बिना किसी को मुक्ति की आशा नहीं रखनी चाहिये, देखो! आदिनाथ पुराण मे कहा है कि "भरत जी को अंगरखे की तनी खोलते समय केवल ज्ञान हुआ था" कहो वे नग्न तो नहीं थे, वस्त्राभूषण पहिने हुए थे, परन्तु बात यह थी कि बाह्य वस्तु संसर्ग होने पर भी भावतया निष्परिग्रह थे, भगवती आराधना में कहा है कि "जब कोई साधु समाधिमरण करना चाहे तो ४८ साधु उसकी सेवा में रहें, उन में से ४ साधु आहारादि लावें" अब कहो यदि पात्र ही न होगा तो वे आहारादि किस में लावेंगे? सत्ताईसवें अधिकार में चौंसठवी गाथा यह है—

चत्तारि जणा भत्तं उवकप्पित्त अगिलाए पाउगं।
छंदिववदग दोसं अमाइणो लद्धि संपत्ता ॥१॥

अर्थ—क्षपक की लब्धि से युक्त तथा माया रहित और ग्लानि रहित चार मुनि क्षपक के योग्य उद्गमादि दोष रहित भोजन की कल्पना करें ॥ १ ॥

तीसवें अधिकार में छः प्रकार के जल का अधिकार है-उष्ण जल, इमली का जल, कठोती का धोवन, लेवड़ (हस्तस्पष्ट), अलेवड़ (हाथ से अस्पष्ट) तथा चावलो का मांड़, अर्थात् इन जलो का लेना कहा गया है, फिर वे उत्तम साधुओं की निन्दा क्यो करते हैं? यही तो जल साधु को कल्पता है, सचित्त का ग्रहण करना वर्जित ही है-किञ्च श्रावक के लिये भी तो उपवास मे प्राशुक जल का ग्रहण करना कल्पता है परन्तु कच्चा पानी नही कल्पता है, उपर्युक्त कथन के अनुसार दिगम्बर मत से ही अकल्पनीय जल का ग्रहण करना विरुद्ध है तो वे आज कल सब कच्चा जल क्यों लेते है?

इन के क्रियाकोष मे तथा ज्ञानार्णव मे सामायिक की यह रीति लिखी है कि:—

प्रात दुफेरी साँझ को, करै सदा सद बुद्ध।
खट खट घटीका जो करै, सो उत्कृष्टी रीति ॥१॥

चउ चउ घटी का मध्य है, करै शुद्ध धरि प्रीति।
द्वै द्वै घटिका जघन हैं, पालो श्रावक रीति ॥२॥
तेतो वेला योग है, या सम और न काय।
धरै शुद्ध एकाग्रता, मन लावे जिन मांय ॥३॥
यही शुद्धता काल की, समय उलघे नाय।
तीजी आसन शुद्धता, ताको सुनो विचार।
पल्यकासन धारिके, ध्यावे त्रिभुवनसार ॥४॥
अथवा कायोत्सर्ग धरि, सामायिक करतव्य।
तजि इन्द्रिय व्यापार सब, हो निश्चल जन भव्य ॥५॥

इस प्रकार इन के मत में सामायिक और प्रतिक्रमण के बहुत से भेद कहे गये हैं।

(प्रश्न) इनके मत में रात्रिभोजन के विषय में क्या कहा जाता है?

(उत्तर) रात्रि भोजन के विषय में क्या कहा जाता? उसका तो निषेध ही किया गया है? और ऐसा करना उचित ही था-देखो! क्रिया कोष का यह विचार है—

दोय मुहूरत दिन रहे, तब से त्याग कराय।
दिवस मुहूरत दो चढ़े, मुख आहार लेवाय ॥ १ ॥
जो निशि भोजन करत हैं, तेहि निशाचर जान।
पावें नित्य निगोद को, जन्म महा दुखखान ॥ २ ॥
नाम निशाचर चोर को, चोर समाना तेह।
धरैं निशाचर पापिया, हरैं धर्म मति तेह ॥ ३ ॥

यह सब कहा तो है किन्तु खेद इस बात का है कि श्रावकसमाज में के अनेक श्रावक इस नियम का पालन नहीं करते हैं और रात्रि में दूध, दही, रबड़ी और सञ्जी आदि का आस्वाद लेकर निजधर्म मर्यादा का उल्लघन करते हैं।

(प्रश्न) दिगम्बर भी तो जैन शास्त्रानुयायी हैं, फिर आप उन पर आक्षेप कर उनका खण्डन क्यों करते हैं ?

(उत्तर) किसी पर आक्षेप करना तथा किसी का खण्डन करना हमारा उद्देश्य नहीं है, जो जैन-शास्त्रानुयायी हैं वे सब ही हमारे क्या जैन समाज के माननीय हैं, परन्तु जो कल्पित वाक् समूह को शास्त्र मान कर उसका अनुसरण करते है. वे किसी के माननीय नहीं हो सकते हैं, उन्हीं को समझा कर सत्य पथ पर लाना हमारा कर्त्तव्य है, देखो ! शास्त्र उसे कहते है कि जिस मे प्राणीमात्र के कल्याण की शिक्षा दी गई हो तथा जिस में पूर्वा पर में विरोध न आता हो, किन्तु जो वाग्जाल आत्मरूप को शास्त्र मानता हो तथा आर्ष शास्त्र का खण्डन करता हो, उसे शास्त्र नहीं किन्तु शस्त्र कहना चाहिये, हाँ यह विशेषता है कि असली शस्त्र तो एक भव में काट कर दुःखदायी होता है, परन्तु पूर्वोक्त शास्त्र रूपी शस्त्र भव २ में दुःखदायी होता है, ऐसे शास्त्र रूपी शस्त्र का आश्रय लेकर चाहे जैनी हो वा इतर हो, कल्याण भागी नहीं हो सकता है।

(प्रश्न) दिगम्बर शास्त्र में क्या आप सप्रमाण कुछ शास्त्र विरोध दिखलावेंगे ?

(उत्तर) हाँ, लो, देखो ! गुरुज्ञान से भ्रष्ट दिगम्बर टोडरमल ने श्रावकाचार मे श्वेताम्बर मत की अत्यन्त झूंठी २ निन्दायें लिखी हैं—मिथ्या कलंक लगाने को मिथ्या वाग्जाल को विस्तृत किया है, ज्ञानी का यह धर्म नहीं है कि किसी पर मिथ्या आक्षेप करे।

(प्रश्न) कृपया उनका कुछ कथन तो सुनाइये कि किस प्रकार क्या २ निन्दायें लिखी हैं।

(उत्तर) इस विषय में अधिक लिखने से ग्रन्थ का विस्तार होगा अतः कुछ बातें तुम्हे सुनाये देते हैं उनका कथन है कि—

१—केवली केवली को नमस्कार करे।

२—निन्दक को मारने से पाप नहीं होता है।

३—महावीर की बेटी माली के यहाँ ब्याही थी।

४—कपिल नारायण को केवल ज्ञान हुआ था तथा कम्पिलधात की खण्ड से यहाँ आया था।

५—केवल होने के पीछे वे नाचे थे।

६—साधु को यदि मास का आहार वहराया जावे (दिया जावे) तो वह उसका भोग करले।

७—सुलसा श्राविका के देवता से पुत्र हुआ था।

८—त्रिपृष्ठ वासुदेव छीपी के कुल में उपजा था।

९—जुगुलिया परस्पर में लडे थे।

१०—बाहुबल ने युगल रूप धारण किया था।

११—यदि मुनि के काम उत्पन्न हो तो श्रावक स्त्री को देकर उसे स्थिर करे।

इस प्रकार के अनेक वाक्य हैं, कहिये यह शास्त्र विरुद्ध हैं या नहीं? क्या कभी ये सप्रमाण वाक्य हो सकते हैं? किंच—शिखर माहात्म्य में लिखा है कि—"जो सिखर जी में जाता है वह नरक में नहीं जाता है" पद्मपुराण में लिखा है कि "रावण ने और लक्ष्मण ने यात्रा की थी, वे नरक में गये" क्या ही आश्चर्य का विषय है, कैसा परस्पर में विरोध है, पचम काल में क्या २ गप्पें हो रही हैं, यदि शिखरजी की यात्रा से ही नरक बन्धन टूटता था तो बड़े २ चक्रवर्त्ती, वासुदेव राजा, सेठ और सेनापति आदि ने सर्वस्व छोड़ कर दीक्षा क्यों ली? धन खर्च कर यात्रा के द्वारा ही नरक के बन्धन को क्यों नहीं तोड़ा?

सीताचरित्र में सीता को जनक राजा की पुत्री लिखा है, परन्तु पद्मपुराण में लिखा है कि सीता रावण की पुत्री थी और उसकी माता मंदोदरी थी।

कोई लोग कहते हैं कि—बाईसवें जिनराज सोरीपुर में जन्मे तथा दूसरे कहते हैं कि यदि जन्म लेते तो भागते क्यों? तब पद्मावती का

भार धारण किये हुए कहते हैं कि द्वारिका में सोगीपुर नामक कोई मुहल्ला होगा, वहां जन्म कल्याण हुआ होगा ।

इस प्रकार दिगम्बर मत में अनेक वचन प्रलाप रूप हैं उनका कहां तक उल्लेख किया जावे ।

श्वेताम्बर आम्नाय के ४५ आगम हैं, उन मे तब दिगम्बरों का नाम तक भी नहीं है, तो उनकी निन्दा तो कहां से हो सकती है ? किन्तु दिगम्बर ग्रन्थों में तो प्रत्येक ग्रन्थ में श्वेताम्बरों की निन्दा भरी पड़ी, किन्तु इस में आश्चर्य ही क्या है-पिछले का पूर्व की निन्दा करना सम्भव ही है ।

इस मत में एक मनुष्य कुन्द कुन्दाचार्य नामक गुरुद्रोही हुआ है, उसने गुरु की निन्दा कर भिन्न मत स्थापित किया है, पक्षपात के कारण आचाराङ्ग आदि शास्त्रों का उत्थापन कर पृथक् पुराण का निर्माण किया है, उसमें वहुत से निन्दा के अनुयायी जन और भी द्वेषी होते गये और उन्होंने उससे भी अधिक निन्दा की है, प्राचीन ग्रन्थों में निन्दा के वाक्य कुछ थोड़े हैं, परन्तु नवीन ग्रन्थो में तो उसकी खूब ही भरमार है, मूर्ख जन उक्त निन्दा को सुन कर फूले नहीं समाते हैं ।

ये लोग कहते हैं कि "श्वेताम्बर साधु शूद्र के घर का आहार लेते तथा बासा अन्न खाते हैं" इत्यादि अनेक बातें कही हैं, तात्पर्य यह है कि मिथ्या अवगुणों का उद्घाटन करते हैं तथा गुणो का ग्रहण नही करते हैं, देखो चौथे आरे में ओसवाल, पोरवाल, खण्डेलवाल, पल्लीवाल तथा सेलवाल, इत्यादि फिर्के कब थे ? और किस शास्त्र में इनका उल्लेख है ? उस समय तो प्राय: चारों वर्णों का खान पान एक था तथा व्याह शादी भी होता था, देखो ! सोमल ब्राह्मण की पुत्री गजसुख माली को व्याही थी, इस दशा में साधु के लिये चातुर्वर्ण्य के आहार के ग्रहण का निषेध नहीं है, इस पञ्चम काल में तो सैकड़ों श्रावक भी शूद्रों से भी गये बीते मालूम होते है, क्षत्रियत्त्व को छोड़ कर

श्रावक अपने को वैश्य जातीय मानते हैं, हम पूछते हैं कि यदि सदा से वैश्य हो तो उग्रसेन राजा से उत्पत्ति को तुम क्यों मानते हो ?

(प्रश्न) दिगम्बर लोग वस्त्र धारण का निषेध क्यों करते हैं ?

(उत्तर) यह तो तुम उन्हीं लोगों से पूछो कि वे किस शास्त्र के सिद्धान्त से वस्त्र धारण का निषेध करते हैं, हम तो ऐसा करते नहीं हैं फिर हमसे इस प्रश्न के करने की क्या आवश्यकता है ?

(प्रश्न) सुना है कि वे वस्त्र धारण में परिग्रह समझते हैं।

(उत्तर) यदि वे वस्त्र धारण में परिग्रह समझते हैं तो आहार करने में परिग्रह क्यों नहीं समझते हैं ?

(प्रश्न) आहार का करना तो शरीर धारण के लिये अत्यावश्यक है।

(उत्तर) तो अर्धनावस्था में आहार के समान वस्त्र का धारण करना भी शरीर रक्षा के लिये अत्यावश्यक है, और यों देखा जावे तो बाईस परीषहों में से जैसा क्षुत्परीषह है वैसा ही वस्त्र परीषह भी है कि जब यदि वे वस्त्र में ममत्व का आरोप कर उसे परिग्रह रूप मानें तो आहार में भी ममत्व का आरोप कर उसे भी परिग्रह मानना चाहिये, क्योंकि मूर्च्छा (आसक्ति) का नाम परिग्रह है।

(प्रश्न) वे लोग कहते हैं कि—आहार तो ३२ कवल का होता है, अत मर्यादा सहित होने से वह परिग्रह नहीं है।

(उत्तर) तो आहार के समान वस्त्र भी तो मर्यादा सहित ही होता है, मर्यादा के बिना तो साधु का कोई काम ही नहीं होता है।

(प्रश्न) वस्त्र धारण में जुआ आदि के पड़ने की सम्भावना होती है, अत वह त्याज्य है।

(उत्तर) आहार में भी तो चूरणिया आदि जीवों के पड़ने की सम्भावना है, खाना और पहरना, ये दोनों समकालिक विषय हैं बात यह है कि चाहे आहार हो वा वस्त्र हो मर्यादा के सहित होना चाहिये, अर्थात् तत्परिभोग में जिन वचन का उल्लंघन नहीं होना चाहिये, क्योंकि जिन वचन का उल्लंघन करना ही मर्यादा का भङ्ग करना है,

जो कि अनन्त संसार वृद्धि का कारण है, यह श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों के लिये समान हैं । अब इन के विषय में विशेष लिखना अनावश्यक है इन लोगों से कहना इतना ही है कि अकर्त्तव्य कार्यों का परित्याग करो तथा कर्त्तव्य कार्यों का ग्रहण करो, देखो ! जो तुम जिन राज को रथ में बिठलाकर फल पुष्प चढ़ाते हो, धूप दीप करते हो, बादाम लोंग और नाज आदि भी चढ़ाते हो, रात्रि में लड्डू चढ़ाते हो[1]? रथ यात्रा निकालते हो कि जिसमें अनन्त काय का विघात होता है, अर्थात् द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुन्द्रिय तथा पञ्चेन्द्रिय जीवों का घमसान होता है, इत्यादि अकर्त्तव्यों का त्याग करो, इतने अकरणीय कार्यों को करके फिर उस मूर्ति को जिनराज मानते हो, क्या भगवान् को ये सब कार्य पसन्द हैं, क्या संयमावस्था में उन के साथ कोई ऐसे व्यवहारों को करता था ? वे तो परम त्यागी थे, तुम उन्हें भोगी क्यों बनाते हो ? मेरा किसी के साथ रागद्वेष वा पक्षपात नहीं है, सम्यग् दृष्टि होकर मेरे कथन को विचारो, मिथ्यात्त्व का ग्रहण करने से कभी उद्धार नहीं हो सकता है, मेरे शब्दों को बुरा न मान कर उचित शिक्षारूप जानो, अज्ञान दशा को छोड़कर षट् काय का पालन करो, क्योंकि जिनराज की आज्ञा निरवद्य मार्ग के ग्रहण की है यदि इस मार्ग का अब ग्रहण न करोगे तो फिर अवसर मिलना कठिन होगा, अतः शीघ्र ही सचेत और सावधान होकर सत्य शास्त्रों का अभ्यास करो तथा उनके द्वारा यथार्थ ज्ञान का सम्पादन कर और सन्मार्ग का अवलम्बन कर आत्मकल्याण करो, यही हमारी शिक्षा है ।

(प्रश्न) अब[2] हम आप से तेरह पन्थियों के विषय में गवेषणा के लिये प्रश्न करना चाहते हैं ।

(उत्तर) ठीक है, प्रश्न करो; यथा शक्ति उनका उत्तर दिया जावेगा ।

१—दिवाली की रात्रि को ये लोग लड्डू का भोग लगाते है ॥

२—देखो मेरा भूमिका का लेख (संशोधक) ॥

(प्रश्न) सुना है कि तेरह पन्थी साधु सयता सयती को यद्वा असयती को दान देने में एका त पाप बतलाते हैं तथा यह भी कहते हैं कि "महाव्रती को सावद्यदान की अनुमोदना नहीं करनी चाहिये तथा निषेध भी नहीं करना चाहिये"।

(प्रश्न) सागार धर्म बारह अणुव्रत रूप है उनमें सावद्यदान का वर्णन नहीं है, अत देश धर्म से बाह्य होने से उसमें एकान्त पाप है।

(उत्तर) देखो केवली की आज्ञा एकान्त धर्म रूप है, क्योंकि जो कार्य एकान्त पापरूप है उसका केवली ने निषेध किया है तथा जिस कार्य में पाप और पुण्य मिश्रित है उस कार्य में मौन धारण का कथन है, किञ्च-सयता सयती को दान देने में देश और काल की अपेक्षा से कहीं निर्जरा मानी है कहा पुण्य माना है तथा कहीं पाप माना है।

(प्रश्न) यह आप कैसे कहते हैं? भगवती सूत्र में तो असयती को दान देने में एकान्त पाप कहा है आप उसे कहीं निर्जरारूप, कहीं पुण्यरूप और कहीं पापरूप कैसे बतलाते हैं?

(उत्तर) भगवती में जो पाठ है वह "पडिलाभेमाणे" ऐसा है, किन्तु 'दलमाणे" ऐसा पाठ नहीं है देखो। साधु को जो दिया जाता हैं वह निर्जरारूप है तथा साधारणतया जो दिया जाता है उसे दान कहते हैं, निर्जरा के उद्देश्य से जो दान देना है उसे प्रतिलाभना कहते हैं, वहा के तृतीय पाठ में असयती को देने में जो एकान्त पाप कहा है उस का तात्पर्य यह है कि महामिथ्यात्वी तथा आरम्भत परिग्रह के उपदेशक को जो दान निर्जरा के उद्देश्य से दिया जावे, वह एकान्त पापरूप है, उक्त सूत्र मे "समणे वा माहणे वा" ऐसा पाठ है उक्त पाठ में "वा" पद से दो वस्तुओं की सिद्धि होती है, सूत्र में भी कहीं २ "माहण" शब्द श्रावक के लिये आया है, टीकाकारों ने भी ऐसी ही व्याख्या की है, अत "माहण" पद से प्रासुक दान के अधिकार से प्रतिमाधारी श्रावक का बोध होता है, जो दान निर्जरारूप है उसे एकान्त पाप कैसे कहा जा

सकता है ? देखो ! सावद्य में जितनी अनुकम्पा है वह पहिले अणुव्रत की पुष्टिरूप है, जितना परिग्रह का त्याग है वह पाँचवें अणुव्रत की पुष्टि है, साधर्मी में जितना राग है वह वात्सल्य है, जितनी ख्याति कीर्त्ति है वह प्रभावना है तथा जितना आरम्भ है वह पाप है, जैसे कि भुक्त आहार कुछ तो वल पराक्रम आदि रूप में परिणत होता है—तथा कुछ उच्चार आदि रूप में परिणत होता है।

(प्रश्न) असंयती तथा संयता संयती के ऊपर जो अनुकम्पा है वह तो पापरूप होती है।

(उत्तर) मेघकुमार ने शशक पर अनुकम्पा कर संसार पार किया था, कहो शशक कौनसा संयती था ? देखो ! प्रत्येक भूत, प्राणी, सत्त्व और जीव पर दया करना तथा उस पर अनुकम्पा लाना, सात वेदनीय का बाँधना है, सात वेदनीय पुण्यरूप है, उसे पाप कैसे कहा जा सकता है ? जिस प्रकार साधु को दान देने से उसके संयम की पुष्टि होती है उसी प्रकार श्रावक को देने से उसके संयम की पुष्टि होती है। भगवती सूत्र मे संयती को दान देना निर्जरारूप कहा है, किन्तु संयता संयती के विषय में कुछ नहीं कहा है, परन्तु यहां पर यह जान लेना चाहिये कि उक्त कथन में एकान्त निर्जरा तथा एकान्त पाप का वर्णन नहीं है।

किञ्च—श्रावक का वारहवां व्रत अतिथि संविभाग कहा है, यदि यह व्रत सर्वथा साधु के लिये ही होता तो "अतिथि संविभाग" के स्थान में "श्रमणसंविभाग" कहना चाहिये था, क्योंकि अतिथि नाम साधु का कहीं भी देखा नहीं गया है, अतिथि उसको कहते हैं कि जो भोजन के समय में अकस्मात् भोजनार्थी वनकर आजावे, देखो ! ठाणाङ्ग सूत्र के पांचवें ठाणे में अतिथि के विषय में कहा है कि-"अतिहिवणीमगे" इसका तात्पर्य यही है कि—यदि भोजन का अर्थी कोई पुरुष आजावे तो उसका विभाग निकाल कर उसे भोजन देना चाहिये।

(प्रश्न) तेरहपन्थी कहते हैं कि—ऐसा उपदेश देना साधु को तो कल्पता नहीं है, अतः जो केवली की आज्ञा से बाहर है वह धर्म नहीं है।

(उत्तर) भगवती में कहा है कि "तथा रूप साधु को अप्राशुक के देने में अधिक निर्जरा तथा अल्प पाप है," अब देखो ! अप्राशुक देने की आज्ञा तो नहीं है, परन्तु उसमें भी निर्जरा कही गई है ।

(प्रश्न) भगवती सूत्र में असयती तथा अव्रती को देना पाप कहा है वह निर्जरा रूप नहीं हो सकता है ।

(उत्तर) भगवती सूत्र में ४७ बोलों का कथन है तथा वहाँ चार भङ्गों का कथन किया गया है, वहाँ पर मोहनीय कर्म को पाप कर्म कहा है, तथा सात कर्मों का पाप रूप में कथन नहीं किया है दान में वेदनीय कर्म का बन्ध होता है, वह वेदनीय कर्म दो प्रकार का है—सात वेदनीय, तथा असातवेदनीय, पट्काय के जीवों को साता उत्पन्न करने से सात वेदनीय का बन्ध होता है तथा पट्काय के जीवों को असाता उत्पन्न करने से असात वेदनीय का बन्ध होता है ।

सूत्र कृताङ्ग के ११ वें अध्ययन में कहा है कि—

जे य दाण पसंसति, वह मिच्छति पाणिणो।
जे य ण पडिसे हति, वित्तिच्छेद करतिते ॥ १ ॥

अर्थात् जो लोग ससारी दान की प्रशसा करते हैं वे प्राणिवध की इच्छा करत हैं तथा जो लोग उस (दान) का निपेध करते हैं वे दूसरों की वृत्ति का नाश करते है ॥ १ ॥

दूहवो वि न भासति, अत्थिवा नत्थि वा पुणो ।
आय रहस्स हिच्चाण निव्वाण पाउणति ते ॥ १ ॥

अर्थात्—साधु हाँ और ना इन दोनों भाषाओं को न बोले, क्योंकि ऐसा जो लोग करते हैं, वे मोक्ष को प्राप्त होते हैं ॥ १ ॥

"हाँ वा ना" का न कहना मौन धारण कहलाता है परन्तु दान निषेधक जन इस विषय को न समझ कर दान का निषेध करते हैं, सत्य तो यह है कि ससारी दान का अनुमोदन और निषेध दोनों ही कर्मबन्ध के कारण हैं, इसलिये मौन ही उत्तम है, हाँ गृहस्थ की अपेक्षा

तो उसके लिये खुला मार्ग है, जैसे कृष्ण जी महाराज ने थावरजा पुत्र की दीक्षा के अवसर पर द्वारकानगरी में यह ढिंढोरा फिरवा दिया था कि जो कोई राजा, रानी, सेठ, और सेनापति आदि थावरजा पुत्र के साथ में दीक्षा लेवेगा उसके कुटुम्ब को परगना वा गांव दिया जावेगा, धन दिया जावेगा, उस को मित्र के स्थान में समझा जावेगा, अलब्ध वस्तु का लाभ कराया जावेगा तथा लब्ध वस्तु की रक्षा की जावेगी, उनके ऐसा करने से एक सहस्र पुरुषों ने योग का ग्रहण किया परन्तु इस पूर्वोक्त मिश्रपक्ष का नेमनाथ स्वामी ने अनुमोदन व निषेध नहीं किया था।

(प्रश्न) प्रतिमाधारी श्रावक को तो दान देने से एकान्त पाप लगता है।

(उत्तर) यह अज्ञानता का कथन है, यदि किसी सूत्र में यह विषय हो तो बताओ ? देखो ! भगवती सूत्रके तीसरे शतक के पहिले उद्देशक में यह वर्णन है कि गौतम स्वामी ने भगवान् को नमस्कार कर पूछा कि हे भगवन् ! तीसरे देवलोक का इन्द्र सनत्कुमार कैसे हुआ ? उसने पूर्व किस पुण्य का उपार्जन किया था सो बतलाइये, तब श्रीभगवान् ने यह उत्तर दिया कि—

बहूणं समणाणं बहूणं समणीणं बहूणं सावगाणं बहूणं सावियाणं हिय कामए, सुकामए, पथ कामए, अणु कंपाकामए, निस्सेयसकामए ॥ १ ॥

अर्थात्—हे गौतम ! यह बहुत से साधुओं की, बहुतसी साध्वियों की, बहुत से श्रावकों की, तथा बहुत सी श्राविकाओं की हितकामना से, सुखकामना से पथ्यकामना से, अनुकम्पा कामना से तथा निःश्रेयस कामना से वैसा हुआ ॥ १ ॥

इस प्रकार चारों तीर्थों को साता देने का विधान है, उवाई सूत्रमें लब्धिधारी अम्बड़ संन्यासी श्रावक का वर्णन है, वह वे ले के

पारणे में सौ घर में पारणा करता था, तेरह पन्थी लोग यदि इनको पारणा कराने में पाप मानते हैं तो वे इस बात को विचारें कि चतुर्थ काल के श्रावकों में क्या इतनी बुद्धि नहीं थी जो वे ऐसा करते थे, क्या वे ऐसे निर्बुद्धि थे, जो अपने घर का माल खिलाते थे और पाप कर्म बाँधते थे, पक्षपात रहित होकर इन बातों को विचारना चाहिये तथा अर्थ का अनर्थ नहीं करना चाहिये, गृहस्थ का द्वार खुला है, साधु की आज्ञा की आवश्यकता ही नहीं है, साधु की आज्ञा तो केवल धर्मपक्ष विषयिणी है ।

प्रदेशी राजा के सात हजार ग्राम थे, इनमें से चौथा भाग उसने दान शाला के लिये निकाला था, उस समय केशी स्वामी ने तो मौन धारण किया था क्योंकि यदि वे अनुमोदन करते तो अवद्य लगता तथा यदि निषेध करते तो अन्तराय लगता, देखो ! जो सासारिक दान देते समय निषेध करता है उसको वज्र कर्म बन्ध होता है ।

ठाणाङ्ग सूत्र के दशवें ठाणे में दश प्रकार के दानों का वर्णन है, तद्यथा —

अनुकंपा संगहेचेव, भये कलुणे तहेवय ।
लज्जागार वेण च, अहम्मेपुण सत्तमे ॥ १ ॥
धम्मे अट्ठमे वुत्ते, काहियें कततो ॥ २ ॥

उक्त सूत्र पाठ को विचारो, देखो ! अधर्म दान सातवां कहा है, तथा धर्म दान आठवां कहा है, पूर्वोक्त दश दानों में से धर्मदान के विषय में साधु को आज्ञा देना चाहिये तथा अधर्म दान का निषेध करना चाहिये तथा शेष आठ दानों के विषय में विधि और निषेध दोनों ही नहीं करने चाहियें कोई मिथ्यात्वी ज्ञान रहित लोग पूर्वोक्त आठ दानों को भी अधर्म दान में परिगणित करते हैं, वास्तव में वे भगवदाज्ञा के विराधक बनते हैं, कोई मिथ्यात्वी जन अनुकम्पा दान को भी अधर्म दान समझते हैं, यह उनकी अत्यन्त अज्ञानता है, देखो ! अनुकम्पा

व्यवहार तो श्री कृष्ण जी महाराज ने स्वयं किया है, क्योंकि उन्होने वृद्ध पुरुष की ईंटों की राशि उस पर दया विचार कर उसके घर पहुंचाई थी, यदि अनुकम्पा में पाप होता तो वे ऐसा क्यों करते उनको क्या गरज़ थी ? अतः जो लोग अनुकंपा दान को अधर्म दान मे शामिल करते हैं उन्हे महामूर्ख और सूत्र विरोधी जानना चाहिये।

सम्यक्त्व के पांच लक्षण कहे गये हैं—सम, संवेग, निर्वेग, अनुकम्पा और आस्था, इनमें से—रागद्वेष से रहित होकर सर्व जीवों को समान जानना, इसको सम कहते हैं, वैराग्य भाव रखने को संवेग कहते हैं, संसार से निवृत्ति को निर्वेग कहते हैं, सर्व जीवों पर दयाभाव रखने को अनुकम्पा कहते हैं, तथा जिन वचन पर विश्वास रखने को आस्था कहते हैं, अब विचारना चाहिये कि अनुकम्पा को भी सम्यक्त्व का लक्षण कहा है किन्तु किसी शास्त्र में यह नहीं कहा गया है कि अनुकम्पा करने से राग उत्पन्न होता है तथा राग से कर्मबन्ध होता है, इस बात को जो लोग अपने मन से कल्पित करते हैं; उन्हे एकान्त मिथ्यात्वी जानना चाहिये।

ज्ञाता जी के प्रथम अध्ययन में यह वर्णन है कि—"हाथी के भय से शशक पर अनुकम्पा लाकर दया का पालन कर संसार को परीत किया," क्या तेरहपन्थी लोग ज्ञाता जी को नही मानते हैं ? वा उसे आंखें बन्द कर पढ़ते हैं ?

शास्त्र में सम्यक्त्व का अतिशय गौरव है और उसका चौथा लक्षण अनुकम्पा है, यदि अनुकम्पा अधर्मकोटि में होती तो उसके द्वारा सम्यक्त्व की प्राप्ति कैसे हो सकती थी ? बस इससे यह बात सिद्ध है कि जो लोग अनुकम्पा को अधर्मरूप मानते हैं वे सम्यक्त्व की जड़ काटते हैं, सम्यक्त्व की जड़ कटने से धर्म की जड़ कटती है तथा धर्म की जड़ कटने से मोक्षप्राप्ति की जड़ कटती है इस तत्त्व को मत पक्ष छोड़ कर दीर्घ दृष्टि से विचारना चाहिये।

(प्रश्न) अनुकम्पा को हृदय में रख कर किसी जीव को बचाने वा छुड़ाने से उसके ऊपर राग की उत्पत्ति होती है तथा राग से कर्म बन्ध होता है।

(उत्तर) यह कथन ठीक नहीं है, देखो! राग तीन प्रकार का होता है—कामराग, स्नेहराग तथा द्विष्टराग, इन रागों से कर्मबन्ध होता है, परन्तु धर्मराग वास्तव में बन्ध का हेतु नहीं है, देखो! धर्मराग तो श्री गौतम स्वामी को भी था, और यों देखा जावे तो साधु महापुरुष को दान देते समय जो हर्ष उत्पन्न होता है उसका कारण भी तो राग ही है, यदि राग न हो तो ऐसा क्यों किया जावे? अत यह बात सिद्ध होगई कि धर्मराग कर्म बन्ध का हेतु नहीं है, जो लोग धर्मराग को कर्मबन्ध का हेतु मानते हैं वह उनका मन्तव्य एकान्त मिथ्या है।

(प्रश्न) बिल्ली से जब मूषक को बचाया जाता है, तब मूषक पर राग की उत्पत्ति होती है तथा बिल्ली के कार्य में अन्तराय डालने से अन्तराय लगता है।

(उत्तर) राग की उत्पत्ति के विषय में पहिले ही कहा जा चुका है, फिर पिष्टपेषण की आवश्यकता नहीं है, रही अतराय लगने की बात, सो इस का उत्तर यह है कि—साधु को तो ५२ प्राणों का रक्षक कहा है, तथा श्रावक को ४८ प्राणों की रक्षा करने वा कराने के लिये कहा गया है, सूत्र में त्रस काय की रक्षा करने में अन्तराय का लगना कहीं भी नहीं कहा गया है।

कोई लोग एक निश्चय नय को पकड़ कर जयमाली के समान सर्वत्र "करेमाणे अकरे" कहने लगे, यह उनका वक्तव्य मिथ्यात्व रूप है।

अनाथी जी महाराज के पास प्रबोध को प्राप्त होकर श्रेणिक महाराज ने राजगृह नगर में यह ढंढोरा फिरवाया था कि "जो कोई पञ्चेन्द्रिय जीवों को मारेगा वह मेरा अपराधी बनेगा और मैं उसको

दण्ड दूंगा" सोचो, यदि जीव रक्षा में अन्तराय लगता तो वे ऐसा क्यो करते ?

श्रावक का तो यह परम धर्म है कि–वह त्रसकाय की रक्षा करे और करावे, इस विषय में एक दृष्टांत याद आया है और वह यह है कि–किसी नगर में एक साहूकार का लड़का किसी कारण से राजा का अपराधी हो गया, तव राजा ने चाण्डाल को वुला कर उस लड़के को मारने की आज्ञा दी, आज्ञा को पाकर वह चाण्डाल उस वालक को मारने के लिये वधस्थान में ले चला, तव वह वालक खूव जोर से रोने लगा तथा यह पुकारने लगा कि कोई दयावान् पुरुष हो तो मुझे वचावे, उसी समय मार्ग में दो पुरुष जा रहे थे उनमें से एक पुरुष को वालक का विलाप सुनकर दया आ गई, तव वे दोनों मनुष्य अपराधी के समीप आकर चाण्डाल से कहने लगे कि तू इस वालक को छोड़ दे, तव चाण्डाल ने उत्तर दिया, कि इस के मारने के लिये राजा ने मुझे आज्ञा दी है, इसलिये मैं इसे छोड़ नहीं सकता हूं, यह सुन कर वह पुरुष चाण्डाल से लड़ने लगा–तव उसका साथी दूसरा मनुष्य वोला कि—"मारता है तो मारने दे", तू क्यों रोकता है, अपराधी को मारने में क्या पाप है, यदि तू इसको वचावेगा तो तुझ को पाप लगेगा, क्योंकि वच जाने से यह कच्चा पानी पियेगा, हरे पदार्थों को खावेगा तथा रात्रि भोजन और मैथुन आदि अनेक कुकर्म करेगा, षट्काय का विघात करेगा, इसके ऐसा करने से वचाने वाले तुझको पाप लगेगा, इसलिये तू इसे मत वचा" उस पुरुष के इस कथन को वालक के माता पिता तथा अन्य सव पञ्च लोगो ने सुना, तव वे सव कहने लगे कि देखो ! इन दोनों मे से एक पुरुष तो दयावान उत्तम जीव है, जो दया करके इस वालक को वचाता है तथा यह दूसरा पुरुष निर्दयी और पापी है, जो अपने मानुषी धर्म को छोड़कर इस वचाने वाले को मना करता है, इस को भी चाण्डाल के ही समान कहना चाहिये" वस उन लोगों के कथन के अनुसार उन्हें भी चाण्डाल

और पापी के समान कहना चाहिये कि जो जीव रक्षा से निवृत्ति का उपदेश देकर जीवों के हृदयों में से दया भाव का निवारण करते हैं।

(प्रश्न) धर्म तो साधु की आज्ञा में है, साधु की आज्ञा के बिना धर्मपालन नहीं हो सक्ता है।

(उत्तर) कोई श्रावक वर्षा के होते हुए साधु के पास गया, जाकर साधु को वन्दना की, सामायिक किया तथा संवर किया, अब यह बतलाओ कि उसे किस साधु ने आज्ञा दी थी कि तुम वर्षते मे जाओ और ऐसा २ करो उसने स्वय ऐसा करके जो सामायिक आदि क्रिया की है उसका लाभ उसे मिलेगा वा नहीं मिलेगा ? यदि कहो कि लाभ मिलेगा तो साधु की आज्ञा में धर्म कहा रहा ? यदि कहो कि लाभ नहीं मिलेगा, तो यह ठीक नहीं है क्योंकि क्रिया का फल अवश्य ही मिलता है।

(प्रश्न) एक जीव को छुड़ाने में भविष्यत् काल में उसके द्वारा जो आरभ होगा, उस आरभ का हेतु एक प्रकार से छुड़ाने वाला भी है, क्योंकि यदि वह न छुड़ाता तो उसके द्वारा यह आरभ भी न होता तो आरम्भ का कारण बनने के द्वारा छुड़ाने वाले को पाप क्यों नहीं लग सक्ता है ?

(उत्तर) अरे भोले जनों को कहा तक समझावें, उलट फेर कर वही कुतर्क की बात कहते हैं, देखो ! पाप पुण्य का बन्ध आत्मभाव पर निर्भर है, परिणाम शुद्ध होने से पाप बन्ध नहीं हो सक्ता है, देखो ! एक दयालु पुरुष जब किसी जीव की रक्षा करने की चेष्टा करता है तब उसका हार्दिक भाव शुद्ध परिणाम से युक्त होकर यही होता है कि इस जीव के प्राणों की रक्षा हो, किन्तु उसका हार्दिकभाव यह नहीं होता है कि यह जीव जीता रह कर अधिक आरभ कर, बस इस व्यवस्था से उसे पाप बन्ध कैसे हो सकता है ?

होती है उनको तीर्थ सिद्धि कहते हैं, तीर्थङ्करों को केवल ज्ञान की उत्पत्ति से प्रथम ही जो सिद्धि पद की प्राप्ति होती है उनको अतीर्थ सिद्ध कहते हैं, जो गृहस्थ के वेश में सिद्धि को प्राप्त होते हैं उन्हें गृहस्थ लिङ्ग सिद्ध कहते हैं, संन्यासी आदि अन्य लिङ्ग में जो सिद्धि को प्राप्त होते हैं उन्हें अन्यलिङ्ग सिद्ध कहते हैं, जो अपने (साधु) के वेश में सिद्धि को प्राप्त होते हैं उन्हें स्वलिङ्ग सिद्ध कहते हैं, जो स्त्री वेद में सिद्धि को प्राप्त होते हैं उन्हें स्त्री लिङ्ग सिद्ध कहते हैं, जो पुरुष वेदमें सिद्धि को प्राप्त होते हैं उन्हें पुलिङ्गसिद्ध कहते हैं, जो नपुंसक वेद में सिद्धि को प्राप्त होते हैं उन्हें नपुंसक लिङ्ग सिद्ध कहते हैं, वाह्य प्रत्यय (कारण) को देखकर प्रतिबोध को पाकर तथा चारित्र का ग्रहण कर जो सिद्धि को प्राप्त होते हैं उन्हें प्रत्येक वुद्ध सिद्ध कहते हैं, गुरू के उपदेश के विना स्वयमेव जाति स्मरणादि के द्वारा प्रतिबोध को पाकर जो सिद्ध होते हैं उन्हें स्वयम्वुद्ध सिद्ध कहते हैं, गुरु के उपदेश को सुनकर वैराग्य को प्राप्त होकर जो सिद्ध होते हैं उन्हें वुद्ध वोधित सिद्ध कहते हैं, एक समय में जो एक सिद्ध होते हैं उन्हे एक सिद्ध कहते हैं तथा एक समय में जो अनेक सिद्ध होते हैं उन्हें अनेक सिद्ध कहते[1] हैं।

(प्रश्न) दिगम्बर लोग स्त्रियों का मोक्ष नहीं मानते हैं क्या यह उनका मन्तव्य ठीक नही है?

(उत्तर) यह उनका मन्तव्य बिल्कुल ठीक नहीं है, क्योंकि स्त्रियों के निर्वाण का कथन सूत्र में किया गया है तथा स्त्रियोके निवार्ण का प्रतिषेध युक्तियों से भी सिद्ध नही हो सकता है, क्योंकि मुक्ति का मार्ग ज्ञान दर्शन और चारित्र है, तथा सम्यग् दर्शनादि पुरुषों के

१—यद्यपि तीर्थ सिद्ध तथा अतीर्थ सिद्ध, इन दोही भेदों का कथन करने पर शेष भेदों का भी अन्तर्भाव हो सकता था तथापि विशेषता को दिखलाने के लिये शेष भेदों का कथन किया गया है।

समान स्त्रियोंके भी अविकल होते हैं, देखो! स्त्रिया भी सम्पूर्ण प्रवचनार्थ में अभिरुचि रखती हैं, पडावश्यक, कालिक और उत्कालिक आदि भेदों वाले श्रुत को जानती हैं, सत्रह प्रकार के निष्कलङ्क सयम का पालन करती हैं, देव और असुरों के भी दुर्धर ब्रह्मचर्य का धारण करती हैं तथा मासक्षपण आदि तपों को करती हैं, तो भला उनको मोक्ष की प्राप्ति क्यों नहीं हो सकती है?

(प्रश्न) सुना है कि स्त्री वेद में मोक्ष की प्राप्ति होती ही नहीं है, क्योंकि उसमें महाव्रतों का पालन नहीं हो सकता है फिर आप स्त्रियों का मोक्ष कैसे मानते हैं?

(उत्तर) कैसी भोली बातें करते हो, मालूम होता है कि तुम अपने भी ग्रन्थों से अनभिज्ञ हो, देखो! तुम्हारे ही भाव सग्रह तथा गोमटसार आदि ग्रन्थों में कहा है कि "तीनों वेदों का उदय नवें गुणस्थानक तक रहता है" अत स्त्री वेद भी नवें गुणस्थानक तक रहता है तथा महाव्रत तो छठे ही गुणस्थानक में होजता है, यह तुम्हारी कैसी भूल है, किञ्च-वेदोदय म तो किसी की भी मुक्ति नहीं होती है, फिर स्त्रियों के विषय में प्रलाप करना निरर्थक है, क्योंकि वेद जो है वह मोहनीय कर्म की प्रकृति है उसका क्षय हुए विना मुक्ति कैसे हो सकती है, देखो! वेद तो ऊपर लिखे अनुसार नवें गुणस्थानक तक रहता है तथा केवल की प्राप्ति तेरहवें गुणस्थानक में होती[1] है।

(प्रश्न) नवें गुण स्थानक में तो भाव स्त्री होती है।

(उत्तर) क्या यह नहीं जानते हो कि भाव स्त्री का परिणाम अधिक मलीन रहता है, उसको तो नवाँ गुणस्थानक ही कैसे हो सकता है, यदि पुरुष स्त्री का भाव करे तो क्या उसकी मुक्ति होगी?

१—सर्वार्थ सिद्धि की टीका में यह भी कहा है प्रत्युत्पन्न नय के अनुसार वेद के द्वारा भी सिद्ध होते हैं उनमें अल्पबहुत्व नहीं होता है तथा समतीत नय की अपेक्षा नपुसक वद सबस्तोक हुए हैं, उनसे सख्यातगुण पुरुष वद स्त्रीलिङ्ग सिद्ध हुए हैं।

१	२	५	४	३
२	१	५	४	३
१	५	२	४	३
५	१	२	४	३
२	५	१	४	३
५	२	१	४	३
१	४	५	२	३
४	१	५	२	३
१	५	४	२	३
५	१	४	२	३
४	५	१	२	३
५	४	१	२	३
२	४	५	१	३
४	२	५	१	३
२	५	४	१	३
५	२	४	१	३
४	५	२	१	३
५	४	२	१	३
१	३	४	५	२
३	१	४	५	२
१	४	३	५	२
४	१	३	५	२
३	४	१	५	२
२	३	१	५	२
	३	५	४	२
	१	५	४	२
	५	३	४	२

एएहिं अभिमंतिअवासेणं सिरि सिरि वत्तमित्तेण।
साइणि भूअप्पमुहा नासंति खणेण सव्वगहा॥ गा० २९॥
अन्नेवि अ उवसग्गा रायाइभयाइं दुठ्ठरोगा य।
नवपय अणाणुपुव्वी गुणणेणं जंति उवसामं॥ गा० ३०॥

अर्थात्—इस प्रकार आनुपूर्वी आदि भंगों को अच्छे प्रकार जान कर जो उन्हें भावपूर्वक प्रतिदिन गुणता है वह सिद्धि सुखों को प्राप्त होता है॥ २६॥

जो पाप षाण्मासिक और वार्षिक तीव्र तप से नष्ट होता है वह पाप नमस्कार मन्त्र की अनानुपूर्वी के गुणने से आधे क्षण में नष्ट हो जाता है॥ २७॥

जो मनुष्य सावधान मन होकर अनानुपूर्वी के सब ही भङ्गों को गुणता है वह अति रुष्ट वैरियो से बाँधा हुआ भी शीघ्र ही मुक्त हो जाता है॥ २८॥

इन से अभिमन्त्रित श्री "श्रीवेष्ट" नामक वास से शाकिनी और भूत आदि तथा सर्वग्रह एक क्षण भर में नष्ट हो ज़ाते हैं॥ २९॥

दूसरे भी उपसर्ग, राजा आदि के भय तथा दुष्ट रोग नवपद की अनानुपूर्वी के गुणने से शान्त हो जाते हैं॥ ३०॥

इस विषय में और भी अनेक आचार्यों ने बहुत कुछ कथन किया है, परन्तु उसका विस्तार के भय से उल्लेख नहीं किया जाता है।

(प्रश्न) इस नवकार मन्त्र के द्वारा पाँच परमेष्ठियों को नमस्कार किया गया है, तो अर्हत् आदि को परमेष्ठी क्यों कहते हैं?

(उत्तर) परम अर्थात् उत्कृष्टस्थान में स्थित होने के कारण उनको परमेष्ठी कहते हैं।

(प्रश्न) विभिन्न ग्रन्थों में तीन प्रकार के पाठ दीखते हैं, तद्यथा णमो अरहंताणं, णमो अरिहंताणं और णमोअरुहंताणं, क्या इन तीनों पाठों का एक ही अर्थ है, अथवा भिन्न २ अर्थ हैं?

(उत्तर) नमस्कार्य के एक होने पर भी तत्सम्बन्धी गुणों की अपेक्षा उक्त तीन प्रकार के पाठ दीखते हैं तथा उनका अर्थ भी भिन्न २ ही होता है।

(प्रश्न) "णमो अरहंताणं" इस पाठ का क्या अर्थ है?

(उत्तर) उक्त पाठ का संक्षेप में यह अर्थ है कि—अशोकादि आठ महा प्रातिहार्य रूप पूजा के जो योग्य हैं उनको भावपूर्वक नमस्कार हो, समस्त गुप्त वस्तुओं के भी ज्ञाता अरहंतों को नमस्कार हो, जरा आदि अवस्था से रहित अरहंतों को नमस्कार हो, प्रकृष्ट रागादि के कारण भूत मनोज्ञ विषयों का सम्पर्क होने पर भी वीतरागत्व स्वभाव का न परित्याग करने वाले अरहन्तों को नमस्कार हो।

(प्रश्न) "णमो अरिहन्ताणं" इस पाठ का क्या अर्थ है?

(उत्तर) इस पाठ का यह अर्थ है कि—संसाररूप गहन वन में अनेक दुःखों के देने वाले मोहादि रूप शत्रुओं का हनन करने वाले जो जिन देव हैं उनको भावपूर्वक नमस्कार हो, अथवा ज्ञानादि गुणों के आवारक घाती कर्मरूप शत्रु का नाश करने वाले जिन देव को भावपूर्वक नमस्कार हो, अथवा आठ कर्म रूप शत्रुओं के नाश करने वाले जिन भगवान् को भावपूर्वक नमस्कार हो, अथवा पाँचों इन्द्रियों के विषय, कषाय, परीषह, वेदना तथा उपसर्ग ये सब जीवों के लिये शत्रुरूप हैं, इन सब शत्रुओं के नाशक जिन देव को भावपूर्वक नमस्कार हो।

(प्रश्न) "णमो अरुहन्ताणं" इस पाठ का क्या अर्थ है?

(उत्तर) उक्त पाठ का अर्थ यह है कि—कर्मरूप बीज के क्षीण हो जाने से जिन को फिर संसार में नहीं उत्पन्न होना पड़ता है, उन जिन देव को भाव से नमस्कार हो।

(प्रश्न) उक्त लक्षणों से युक्त भगवान् को नमस्कार करने का क्या कारण है?

(उत्तर) यह संसार रूप महा भयंकर गहन वन है, उसमें भ्रमण करने से सन्तप्त जीवों को भगवान् परमपद का मार्ग दिखलाते हैं, अतः सब जीवों के परमोपकारी होने से वे नमस्कार के योग्य हैं, अतः उनको अवश्य ही नमस्कार करना चाहिये।

(प्रश्न) दूसरे पद में सिद्धों को नमस्कार किया गया है, सो सिद्धों का क्या स्वरूप है।

(उत्तर) जिन्होंने चिरकाल से बँधे हुए आठ प्रकार के कर्मरूपी इन्धन समूह को जाज्वल्यमान शुक्ल ध्यान रूपी अग्नि से जला दिया है, उनको सिद्ध कहते[1] हैं, अथवा जो अपुनरावृत्ति के द्वारा मोक्षनगरी में चले गये हैं, उनको सिद्ध कहते[2] हैं, अथवा जिनका कोई भी कार्य अपरिपूर्ण नहीं रहा है उनको सिद्ध कहते हैं[3], अथवा शासन के प्रवर्त्तक होकर सिद्धिरूप से जो मंगलत्त्व का अनुभव करते हैं उनको सिद्ध कहते हैं, अथवा—जो नित्य अपर्यवसित अनन्त स्थिति को प्राप्त होते हैं उन को सिद्ध कहते हैं, अथवा जिनसे भव्य जीवों को गुणसमूह की प्राप्ति होती है, उनको सिद्ध कहते हैं।

(प्रश्न) उक्त लक्षणों से युक्त सिद्धो को नमस्कार करने का क्या कारण है ?

(उत्तर) अविनाशी तथा अनन्तज्ञान, दर्शन, चारित्रं और वीर्य रूप चार गुणों के उत्पत्ति स्थान होने से उक्त गुणों से युक्त होने के कारण अपने विषय में अतिशय प्रमोद को उत्पन्न कर अन्य भव्य जीवों के लिये आनन्द-उत्पादन के कारण होने से वे अत्यन्त उपकारी हैं अतः उनको नमस्कार करना उचित है।

(प्रश्न) तीसरे पद में आचार्यों को नमस्कार किया गया है, सो आचार्य किनको कहते हैं ?

१—सितं वद्धमष्टप्रकारकं कर्मधमातं यैस्ते सिद्धाः ॥

२—सिध्यन्ति स्म गच्छन्ति स्म अपुनरावृत्या मोक्षपुरमिति सिद्धाः।

३—सिध्यति स्म सर्वकार्यं पूर्णत्वेन येषान्ते सिद्धाः।

(उत्तर) जो मर्यादापूर्वक जिनशासन के अर्थ का सेवन अर्थात् उपदेश करते हैं उनको आचार्य कहते हैं, अथवा उपदेश के ग्रहण करने की इच्छा रखने वाले जिनका सेवन करते हैं, उनको आचार्य कहते हैं, अथवा ज्ञानाचार आदि पाँच प्रकार के आचार के पालन करने में जो अत्यन्त प्रवीण हैं तथा दूसरों को उनके पालन करने का उपदेश देते हैं, उनको आचार्य कहते हैं, अथवा जो मर्यादापूर्वक विहाररूप आचार का विधिवत् पालन करते हैं तथा दूसरों को उसके पालन करने का उपदेश देते हैं, उनको आचार्य कहते हैं, अथवा युक्तायुक्त विभागनिरूपण करने में अकुशल शिष्यजनों को यथाथ उपदेश देने के कारण आचार्य कहे जाते हैं।

(प्रश्न) उक्त लक्षणों से युक्त आचार्यों को नमस्कार करने का क्या कारण है ?

(उत्तर) आचार के उपदेश करने के कारण जिन को परोपकारित्व की प्राप्ति हुई है तथा जो ३६ गुणों से सुशोभित हैं, युगप्रधान हैं, सर्वजन मनोरञ्जक हैं तथा जगद्वर्त्ती जीवों में से भव्य जीव को जिन वाणी का उपदेश देकर उसको प्रतिबोध देकर किसी को सम्यक्त्व की प्राप्ति कराते हैं, किसी को देश विरति की प्राप्ति कराते हैं, किसी को सर्वविरति की प्राप्ति कराते हैं, तथा कुछ जीव उनके उपदेश का श्रवण कर भद्रपरिणामी हो जाते हैं, इस प्रकार के उपकार के कर्त्ता शान्तमुद्रा के धर्त्ता उक्त आचार्य क्षणमात्र के लिये भी कषायग्रस्त नहीं होते हैं, अतः वे अवश्य नमस्कार के योग्य हैं।

(प्रश्न) चौथे पद में उपाध्यायों को नमस्कार किया गया है, सो उपाध्यायों का क्या लक्षण है ?

(उत्तर) जिनके समीप में रह कर अथवा आकर शिष्य जन अध्ययन करते हैं उनको उपाध्याय कहते हैं, अथवा जो समीप में रहे हुए अथवा आये हुए साधु आदि जनों को सिद्धान्त का अध्ययन कराते

हैं उनको उपाध्याय कहते हैं, अथवा जिनके समीपस्त्व से सूत्र के द्वारा जिन प्रवचन का अधिक ज्ञान तथा स्मरण होता है उनको उपाध्याय कहते हैं, अथवा जो उपयोगपूर्वक ध्यान करते हैं उनको उपाध्याय कहते हैं, अथवा जो उपयोगपूर्वक ध्यान में प्रवृत्त होकर पापकर्म का त्याग कर उससे बाहर निकल जाते हैं उनको उपाध्याय कहते हैं, अथवा जिन के समीप में निवास करने से श्रुत का आय अर्थात् लाभ होता है उनको उपाध्याय कहते हैं, अथवा जिनके द्वारा उपाधि (शुभपदवी) की प्राप्ति होती है उनको उपाध्याय कहते हैं, अथवा जिनमें स्वभाव से ही इष्टफल की प्राप्ति का कारणत्त्व रहता है उनको उपाध्याय कहते हैं, अथवा मानसिक पीड़ा की प्राप्ति, कुबुद्धि की प्राप्ति तथा दुर्ध्यान की प्राप्ति जिनके द्वारा उपहत (नष्ट) होती है उनको उपाध्याय कहते हैं।

(प्रश्न) उक्त लक्षणों से युक्त उपाध्यायों को नमस्कार करने का क्या हेतु है ?

(उत्तर) उक्त उपाध्याय २५ गुणों से युक्त होते हैं, द्वादशांगी क पारिगामी, द्वादशांगी के धारक, सूत्र और अर्थ के विस्तार करने में रसिक होते हैं, सम्प्रदाय से आये हुए जिन वचन का अध्यापन करते हैं, इस हेतु भव्य जीवों के ऊपर उपकारी होने के कारण उन को नमस्कार करना उचित है।

(प्रश्न) पाँचवें पद के द्वारा साधुओं को नमस्कार किया गया है, उन साधुओं का क्या लक्षण है ?

(उत्तर) साधुओं का लक्षण इसी परिच्छेद के प्रथम पाठ (साधुधर्म) में लिख चुके हैं, अतः फिर यहाँ उनके लक्षणों का वर्णन करना अनावश्यक है।

(प्रश्न) साधुओं को नमस्कार करने का क्या कारण है ?

(उत्तर) मोक्षमार्ग मे सहायक होने के कारण परम उपकारी होने से उनको अवश्य नमस्कार करना चाहिये, किञ्च—साधुओं के जो

कर्त्तव्य कहे गये हैं उन महा कठिन कर्त्तव्यों का पालन कर जो जगत् का उपकार करने में निरत रहते हैं, वे अवश्य ही नमस्कार के योग्य हैं।

(प्रश्न) श्रीनवकार मन्त्र के कुछ महत्त्व का वर्णन कीजिये।

(उत्तर) इस मन्त्र का महत्त्व तो इतना बृहत् है कि एक बड़ा सा ग्रन्थ बन जावे तो भी उसके महत्त्व का पर्याप्त वर्णन न होसके किन्तु तुम्हारी सुनने की इच्छा है अत संक्षेप से उसके महत्त्व के विषय में कुछ उल्लेख किया जाता है —

यह श्रीनवकारमन्त्र-लोकालोकात्मक सकल जगत्स्वरूप के प्रतिपादक द्वादशाङ्ग रूप श्रुत परम पुरुष का एक शिरोभूषण रत्न है, अथवा यों समझिये कि द्वादशाङ्ग रूप गणिपिटक का यह एक परम महर्घ रत्न है, इसके आनुपूर्वी आदि रूप में गुणन का कुछ महत्त्व श्री जिनकीर्ति सूरि के वाक्यों को उद्धृत कर पहिले लिखा गया है, उक्त सूरिजी ने अपनी स्वोपज्ञ टीका के अन्त में यह भी लिखा है—

"एप श्री पञ्चपरमेष्ठिनमस्कार महामन्त्रः, सकल-समीहितार्थ प्रापण कल्पद्रुमाभ्यधिक महिमा, शान्ति-कपौष्टिकाद्यष्टकर्मकृत्, ऐहिकपारलौकिक स्वाभिप्रेतार्थ सिद्धये यथा श्रीगुर्वाम्नायं ध्यातव्यः"

अर्थात्—"यह श्रीपञ्चपरमेष्ठि नमस्कार महामन्त्र है, सब समीहित पदार्थों की प्राप्ति के लिये इस की महिमा कल्पवृक्ष से भी अधिक है, यह (महामन्त्र) शान्तिक और पौष्टिक आदि आठ कार्यों को पूर्ण करता है, इस लोक और परलोक के अपने अभीष्ट अर्थ की सिद्धि के लिये श्री गुर्वाम्नाय से इस का ध्यान करना चाहिये"।

इस की महिमा के विषय में अन्य आचार्यों का भी कथन है कि—

नवकार इक्क अक्खर पाव फेडेइ सत्त अयराण।
पन्नास च पएण सागर पण सम समग्गेण ॥१॥

जो गुणइ लक्खमेगं पूएइ विहीहिं जिणनमुक्कारं।
तित्थयरनाम गोअं सो बंधइ नत्थि संदेहो ॥२॥
अट्ठेवअट्ठ सया अट्ठ सहस्सं च अट्ठ कोड़ीओ।
जो गुणइ भत्तिजुत्तो सो पावइ सासयं ठाणं ॥३॥

अर्थात् श्रीनवकार मन्त्र का एक अक्षर भी सात सागरोपमों के पापों को नष्ट करता है, इस का एक पद पचास सागरोपमों के पापों को नष्ट करता है, यह समग्र मन्त्र पांचसौ सागरोपमों के पापों का नाश करता है, जो मनुष्य विधिपूर्वक एक लाख वार जिन नमस्कार को गुणता है वह तीर्थङ्कर नाम गोत्र कर्म को बांधता है, इसमें सन्देह नहीं है, जो मनुष्य भक्तिपूर्वक आठ, आठसौ, आठसहस्र तथा आठ करोड़ वार इस का गुणन करता है वह-शास्वत स्थान अर्थात् मोक्ष पद को प्राप्त करता है।

इस महामन्त्र के महत्त्व के विषय में कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्य जी महाराज ने अपने बनाये हुए योगशास्त्र नामक ग्रन्थ के आठवें प्रकाश में जो कथन किया है; उस का भावार्थ यह है कि-"अति पवित्र तथा त्रिलोकी को पवित्र करने वाले, पञ्च परमेष्ठि नमस्काररूप मन्त्र का चिन्तन करना चाहिये, मन, वचन और शरीर की शुद्धि के द्वारा इस का एक सौ आठ बार चिन्तन करने से मुनि भोजन करने पर भी चतुर्थ तप के फल को प्राप्त करता है, इस संसार में इस ही महामन्त्र का आराधन कर परम लक्ष्मी को प्राप्त होकर योगी लोग त्रिलोकी के भी पूज्य हो जाते हैं, सहस्रो पापों को कर के तथा सैकड़ों जन्तुओं को मारकर इस मन्त्र का आराधन कर तिर्यञ्च भी देवलोक को प्राप्त हुए हैं, सर्वज्ञ के समान सर्वज्ञानों के प्रकाशक इस मन्त्र का अवश्य स्मरण करना चाहिये, श्रुत से निकली हुई, पांच वर्णवाली, पञ्चतत्त्वमयी, विद्या का निरन्तर अभ्यास करने से वह संसार के क्लेशों को नष्ट करती है, इस मन्त्र के प्रभाव को अच्छे प्रकार से कहने में

कोई भी समर्थ नहीं है, क्योंकि यह मन्त्र सर्वज्ञ भगवान् के साथ तुल्यता को रखता है, इस के स्मरण मात्र से संसार का बन्धन टूट जाता है तथा परमानन्द के कारण भूत अव्यय पद को मनुष्य प्राप्त होता है," इत्यादि[1]।

इस मन्त्र के गुणन के चमत्कारी प्रभाव तथा उस के फलों का उदाहरणपूर्वक विस्तृत वर्णन श्रीकल्प सूत्र आदि ग्रन्थों में भी किया गया है, यहां पर विस्तार के भय से उस का उल्लेख नहीं किया जाता है।

पूर्वोक्त कथन के द्वारा मनुष्य को जान लेना चाहिये कि लौकिक वा पारलौकिक ऐसा कोई सुख व ऐश्वर्य नहीं है कि जो इस महामन्त्र के आराधन से प्राप्त न हो सकता हो, इस महामन्त्र के पूर्वोक्त उत्कृष्ट गौरव और माहात्म्य को विचार कर श्री जिन धर्मानुयायी सज्जनों का यह परम कर्त्तव्य है कि वे यथाशक्ति उस के आराधन और गुणनाभ्यास में तत्पर होकर अपने मानव जन्म को सफल करें, अर्थात् उसके समाराधन के द्वारा मानव जन्म के धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूप चारों फलों को प्राप्त कर आत्म-कल्याण का सेवनकरें।

१—श्रीनवकार मन्त्र के अमित प्रभाव, गुणनविधि, अष्टसिद्धिप्राप्ति नमस्कार कल्प से उद्धृत चमत्कारी मन्त्र प्रभाव, भंग संख्या, नष्ट, उद्दिष्ट तथा इस के विषय में अनेक शंका समाधान, इत्यादि विषयों को देखना हो तो मेरे पास से श्रीमन्त्रराज गुण कल्प महोदधि नामक वृहद् ग्रन्थ को मंगवाकर उसका अवलोकन कीजिये। (संशोधक)

५-परिशिष्ट।

प्रिय पाठकवर्ग!

ग्रन्थ की परिसमाप्तिसूचक यह उसका परिशिष्ट भाग है, इस विभाग में किसी विशेष विषय का उल्लेख न कर केवल आपका ध्यान "मानवजीवन की सार्थकता" के विषय में आकर्षित किया जाता है, सुनिये-"मानवजीवन की सार्थकता" पूर्व लिखे अनुसार चरित्र गठन पर निर्भर है, नियमपूर्वक सच्चरित्र के पालन का नाम चरित्र गठन है, तात्पर्य यह है कि जो मनुष्य बुरी या भली प्रत्येक दशा में नियमपूर्वक अपने चरित्र का पालन करता रहता है उसका जन्म अवश्यमेव सार्थक होता ही है, इसमें कोई भी सन्देह नहीं है, वास्तव में मनुष्य जीवन की शोभा, प्रतिष्ठा, गौरव और सुख का साधन चरित्र ही है, देखो! मनुष्य के लिये यह एक ऐसा अमूल्य धन है कि इसे अपने पास रखने वाला चाहें किसी अवस्था में क्यों न हो, सभ्यसमाज में गौरव और प्रतिष्ठा को पाता ही है, किञ्च-इस कथन में भी अत्युक्ति नहीं होगी कि सभ्य समाज में जैसा आदर चरित्र विशिष्ट पुरुष का होता है वैसा उन लोगों का नहीं होता है जोकि धन और विभव से सब भाँति भरे पूरे और समृद्ध हैं।

देखो! सच्चरित्र पुरुष को उच्च सम्मान अथवा बड़ी पदवी पाते देखकर किसी को कभी डाह वा ईर्ष्या भी नहीं होती है, धनाढ्य लोगों में जैसे उतराचढ़ी और परस्पर की स्पर्धा रहा करती है उसका सच्चारित्र के विषय में शिष्टता के सूत्र में सर्वथा प्रतिषेध है, क्योंकि चारित्र पालन शिष्टता और सभ्यता का एक प्रधान अङ्ग है।

विद्वानों का कथन है कि प्रत्येक जाति की वास्तविक उन्नति तब ही हो सकती है जब कि उस जाति का प्रत्येक मनुष्य चारित्र सम्पन्न और शिष्टता की कसौटी में कसा हुआ हो, कोई मनुष्य विद्या और योग्यता में चाहे उत्कृष्ट न हो तथा अधिक धन भी पास में न हो; परन्तु चारित्र की कसौटी में यदि खरा हो तो वह प्रत्येक दशामें सबसे

अधिक विश्वासपात्र समझा जावेगा, इसमें सन्देह नहीं है कि विद्वान् और सुयोग मनुष्य की लोकोत्तर बुद्धि पर मोहित होकर चाहें उसे लोग देवता के तुल्य मानते हों, परन्तु विश्वास एक ऐसी वस्तु है कि जिसमें विद्या और योग्यता से यदि अधिक कोई वस्तु आवश्यक है तो वह यही सच्चारित्र की कसौटी है, विद्या के बिना ज्ञान, ज्ञान के बिना व्यवहार, और चारित्र के बिना चातुर्य, ये सब मनुष्य में निस्सन्देह एक प्रकार की शक्तियाँ हैं किन्तु वे सब ऐसी हैं कि जो केवल हानिकारक ही पाई जाती हैं, इस प्रकार की शक्तियाँ मनोरञ्जन के लिये आवश्यक हो सकती हैं, हाँ, कभी २ उनसे कुछ शिक्षा भी मिल सकती है, परन्तु समाज को उनसे कुछ लाभ पहुँचा हो, यह कदापि देखने वा सुनने में नहीं आया है।

सत्यता, स्पष्टता, मन वचन और कर्म से भलाई की ओर प्रवृत्ति, दया, न्याय, उचित विषय का दृढ़ पक्षपात, निन्दित कर्मों से घृणा, उदारभाव और व्यवहार में शुद्धता, इत्यादि गुण मनुष्य में चरित्रगठन के मुख्य अङ्ग हैं, इनमें भी सत्यता सब से बड़ा प्रधानाङ्ग माना गया है, क्योंकि चरित्र संशोधन का मूल आश्रय यही है, इसीलिये महानुभाव लोग मन वचन और कर्म में सत्यता को स्थान देते हैं, सत्य है—

मनस्येकं वचस्येकं, कर्मण्येकं महात्मनाम्।
मनस्यन्यद् वचस्यन्यत्, कर्मण्यन्यद् दुरात्मनाम् ॥१॥

अर्थात्—महात्मा जनों के मन वचन और कर्म में एक बात होती है तथा दुरात्मा लोगों के मन में और वचन में और तथा कर्म में और होता है॥१॥

यह मन वचन और कर्म में सत्यता का वर्त्ताव उसी से हो सकता है कि जिसने बनावट को कभी पहिचाना ही न हो और जो सदा इस बात के लिये सावधान रहता है कि मेरा प्रयत्न और परोक्ष समान ही रहे बस ऐसे ही पुरुष को समाज में निरादर और अप्रतिष्ठा के

सहन का कदापि अवसर ही प्राप्त नहीं हो सकता है जो कि प्राणान्त कष्ट के समान है।

चरित्रगठन को जीवन का एक मुख्य उद्देश्य समझ कर मनुष्य मात्र को सर्वदा इस बात का विचार करते रहना चाहिये कि-शिष्ट-समाज में मेरी गणना क्योंकर हो सकती है, बस इस बात का विचार करते रहना ही मनुष्य में सज्जनता को उत्पन्न कर देने के लिये पर्याप्त है।

अनुगन्तुं सतां वर्त्म, कृत्स्नं यदि न शक्यते।
स्वल्पमप्यनु गन्तव्यं, मार्गस्थो नावसीदति ॥ १ ॥

अर्थात्—अच्छे लोगों के चले हुए मार्ग पर यदि मनुष्य भली भांति न चल सके तो जितना हो सके उतना ही चलना चाहिये, उनके मार्ग पर चलने वाला मनुष्य दुःख भागी नहीं हो सकता है ॥ १ ॥

ठीक ही है—जो एक सीधे मार्ग में जा रहा है वह भटकने के दुःख को कैसे पा सकता है ? बस यह बात सिद्ध हो गई कि उच्चश्रेणी के जनों का जो वर्त्ताव है, यदि मनुष्य उसका अनुकरण करता रहे तो वह कदापि संकट में न पड़ेगा।

इस विषय का निरूपण विस्तारपूर्वक प्रथम परिच्छेद में भी कर दिया गया है, इसलिये यहाँ पर फिर उक्त विषय का विवेचन करना अनावश्यक है, यहाँ पर लिखने का तात्पर्य केवल इतना ही है कि मनुष्य को अपने जन्म की सार्थकता के लिये अपने लक्ष्य को उच्च बना कर सब से प्रथम चरित्र का गठन करना चाहिये, चरित्र का गठन करने से उस में एक प्रकार का आत्मिक बल प्राकृतिक नियम से ही इस प्रकार का उत्पन्न हो जाता है कि साधारण तो क्या किन्तु विशेष और प्रबल कारण भी उसके आत्मा को धर्मच्युत करने के लिये अपर्याप्त और असमर्थ होते हैं, क्योंकि उसके विशुद्ध और निर्मल आत्मा में एक ऐसी उच्च श्रेणी की दृढ़ता निवास करती है कि—जो धर्म से च्युत करने वाले साधनों का सामना करके शीघ्र ही उनका

पराजय कर देती है, उसकी यह दृढ प्रतिज्ञा सर्वदा आभास युक्त रहती है कि—

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वास्तु वन्तु।
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्॥
अद्यैव वा मरण मस्तु युगान्तरेवा।
न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पद न धीराः॥ १॥

अर्थात—नीति के जानने वाले पुरुष चाहें निन्दा करें, चाहें स्तुति करें चाहें आज ही मृत्यु हो, चाहें युगान्तर में हो, लक्ष्मी चाहें चली आवे, चाहें अपनी इच्छानुसार चली जावे, परन्तु धीर पुरुष न्याय के मार्ग से एक कदम भी नहीं हटते हैं॥ १॥

सच्चरित्रवान् पुरुष के हृदय पटल पर यह वाक्य स्वर्णाक्षरों में लिखा रहता है कि—

अयं निजः परोवेति, गणना लघु चेतसाम्।
उदार चरितानातु, वसुधैव कुटुम्बकम्॥ १॥

अर्थात्—यह अपना है यह पराया है, यह विचार लघु (क्षुद्र) हृदय वाले पुरुषों का है, उदार चरित्र महानुभावों की दृष्टि में तो समस्त पृथिवी ही उन की कुटुम्ब रूप होती है॥ १॥

चारित्र विशिष्ट पुरुष के कर्णों में दैवी शक्ति इस बात की अहर्निश घोषणा करती रहती है कि—

शरीरस्य च गुणाना च, दूरमत्यन्तमन्तरम्।
शरीर क्षणविध्वंसि, कल्पान्तस्थायिनो गुणाः॥१॥

अर्थात्—शरीर और गुण, इन दोनों में बड़ा भारी अन्तर है, क्योंकि शरीर तो क्षण भर में नष्ट हो जाता है तथा गुण कल्प पर्यन्त विद्यमान रहते हैं॥१॥

सच्चरित्र पुरुष अपने चारित्र को इस प्रकार का अमूल्य और अनुपम द्रव्य समझते हैं कि समस्त ससार के वैभव के प्राप्त होने पर

भी उसके बदले में वे निज चारित्र का परिवर्त्तन नहीं करना चाहते हैं और यह ठीक भी है क्योंकि क्षण भंगुर सांसारिक विभूति अविनश्वर गुण के कारणभूत चारित्र की समता कैसे कर सकती है? भला ऐसा कौन बुद्धिमान् होगा कि तौल में नेत्र के बराबर भी उत्कृष्ट रत्नों को लेकर उनके बदले में अपने नेत्र को निकाल कर बेच दे-एक मूर्ख मनुष्य भी पेट में मारने पर मिलने वाली सोने की छुरी भी स्वीकार नही करता है, तो बुद्धिमान् पुरुष अपने जीवन के सर्वस्व चारित्र को सांसारिक प्रलोभन मे कैसे गॅवा सकता है?

सुनते हैं कि एक बड़े बादशाह ने किसी समय किसी आर्य महिला के सौन्दर्य पर मोहित होकर उसका पता ठिकाना दर्यापत कर अपनी दूती के द्वारा उस महिला के पास यह समाचार भेजा कि— "हे अबले! तुम जानती हो कि मैं बादशाह हूॅ मैं जो चाहें सो कर सकता हूँ, मुझ में रंक को राजा तथा राजा को रंक करने की शक्ति है, इतना होने पर भी मैं किसी के साथ बलात्कार का व्यवहार नहीं करना चाहता हूं, अतः मेरा तुम से अनुरोध है कि तुम खुशी के साथ अपने पातिव्रत धर्म का (यदि तुममें है तो) परित्याग कर अपने प्रेमदान से मुझे अनुगृहीत करो और इसके एवज में जो तुम चाहो सो मैं तुम्हें देने को तैयार हूँ, यदि तुम खुशी से ऐसा नहीं करोगी तो मुझे विवश होकर बलात्कार का प्रयोग करना पड़ेगा, तुम जानती हो कि ऐसा होने पर सिवाय दुःख उठाने के और तुम्हारे हाथ कुछ भी नहीं आवेगा, इसलिये मैं चाहता हूॅ कि मेरी इच्छापूर्त्ति रूप अनिवार्य कार्य मे तुम व्यर्थ में दुःख को मोल मत लो," इत्यादि, इस समाचार को सुन कर उक्त महिला ने बादशाह के पास यह उत्तर भेजा कि—"हे पितृतुल्य बादशाह! मैं ही क्या किन्तु समस्त संसार इस बात को जानता है कि-आप बादशाह हैं, बेशक व्यवहार की दृष्टि से आप कुछ काल के लिये जो चाहें सो कर सकते हैं, राजा को रंक तथा रंक को राजा भी कर सकते हैं, परन्तु परमार्थतया आप ऐसा नही कर सकते हैं,

परमार्थतया तो ऐसा करना ईश्वर के ही हाथ में है, बलात्कार का प्रयोग करना बेशक आपके हाथ में है परन्तु उसका फल भोगने में (बादशाह होने पर भी) आप परतन्त्र हैं, पातिव्रत धर्म प्रत्येक भारतीय महिला में होना चाहिये, अतएव मुझमें भी है, उसका परित्याग कराने के लिये एक बादशाह तो क्या करोड़ों बादशाहतें भी समर्थ नहीं हैं, अत मैं उसका परित्याग कर आपकी आज्ञा के पालन में सर्वथा असमर्थ हूँ, मैं पहिले ही प्रकट कर चुकी हू कि बलात्कार का प्रयोग करना आपके हाथ में है, मैं उसका सहन करने के लिये तैयार हूँ, क्योंकि धर्म रक्षा के लिये प्राणान्त कष्ट का भी सहन करना आर्यकुल के लिये अत्यावश्यक है, इसलिये आप खुशी के साथ मुझ दीन पुत्री तुल्य प्रजा बालिका पर उसका प्रयोग कर सकते हैं, मैं निजप्राणत्यागरूपी मूल्य से निज पातिव्रत रूपी अनुपम रत्न को बेचने को तैयार हूँ," इस उत्तर को सुन कर बादशाह विस्मित होगया और उस से इसका कुछ भी उत्तर न बन पड़ा, उत्तर हो ही क्या सकता था, जब कि उस महिला ने उत्तर देने का कोई अवकाश ही नहीं रक्खा था, केवल इतना ही नहीं किन्तु उस दिन से बादशाह ने यह प्रतिज्ञा करली कि आगामी को किसी आर्य महिला के सम्बन्ध में इस प्रस्ताव को उपस्थित नहीं करूँगा, पाठकगण! देखिये-निजचरित्ररक्षा की दृढ़ता से कितना लाभ होता है, यदि वह आर्य महिला निजचारित्ररक्षा में दृढ़ता न रखती तो कितनी अनर्थ परम्परा होती, अर्थात् प्रथम तो उस महिला का पातिव्रतधर्मरूप सर्वस्व विनष्ट होता, दूसरे बादशाह के इस कुसंस्कार की बराबर वृद्धि ही होती रहती, क्योंकि कामसाधन की सामग्री के प्रस्तुत होने पर उसकी वृद्धि ही होती है, इस हेतु से न जाने अन्य भी कितनी ही महिलाओं के धर्मरूप सर्वस्व का विनाश होता तथा सम्भव था कि न जाने अन्य कितनी महिलायें इसका अनुकरण कर अपने धर्म का बलिदान करतीं, इस उदाहरण से पुरुषों को शिक्षाग्रहण करना चाहिये तथा सोचना चाहिये कि-जब भारतमाता की गोद में पाली हुई अबलाओं की

यह व्यवस्था है तो हम भारतजननी के सुपूत कहलाकर निज चारित्र की रक्षा न करें, यह कितने दुःख का विषय है, महानुभावों का कथन है कि—

वृत्तंयत्नेन संरक्षेत्, वित्तमायाति याति च।
अक्षीणो वित्ततः क्षीणो, वृत्ततस्तु हतोहतः ॥१॥

अर्थात्—मनुष्य को पूर्ण यत्न के साथ वृत्त (सदाचार) की रक्षा करनी चाहिये, क्योंकि धन तो यों ही आता और जाता है, धन से क्षीण हुआ मनुष्य वास्तव में क्षीण नहीं होता है किन्तु वृत्त (सदाचार) से क्षीण हुआ मनुष्य अवश्य विनष्ट होजाता है॥ १॥

बस, इस वाक्य को हृदय पटल पर लिख कर प्रत्येक मनुष्य का यह कर्त्तव्य है कि वह शास्त्रोक्त नियमों का अनुसरण कर निज सदाचार का अच्छे प्रकार से पालन करे, क्योंकि ऐसा करने से ही उस का मानव जन्म सार्थक हो सकता है, तथा उसे सुखधाम की प्राप्ति हो कर उसके आत्मा को शान्ति, सुख, कल्याण और आनन्द प्राप्त हो सकता है।

इति चतुर्थः परिच्छेदः॥

ग्रन्थ परिसमाप्ति ।

नमहुँ पञ्च परमेष्टिनहि, अभिमत फलदातार ।
जिन के सद्ध्यानानलहि[1], होत कर्ममल छार[2] ॥ १ ॥
चम्पा जी महाराज निज, गुरुणी चरण सरोज ।
आतमहित ध्यावत तिन्है, भूरसुन्दरी रोज ॥ २ ॥
तिनहीं के परताप तें, मैं पायो कछु बोध ।
तासु अवलम्बन तें करी, विविध मतनकी शोध ॥ ३ ॥
निज अनुभव परकाश हित, गुरुपद शीस नमाय ।
सुन्दरि विवि(वे)क विलास यह, ग्रन्थ रच्यो मैं भाय[3] ॥४॥
त्यागि सकल पक्षपातको, लै सद्ग्रन्थ-सुसार ।
सकल उक्तिया[4] मैं करी, सज्जन लेहु विचार ॥ ५ ॥
मनोवृत्ति एकाग्र करि, जो पढ़ि हैं सविनोद[5] ।
कर्त्तवनिष्ठा[6] तिन हृदय, पुनि हुइ है बहु मोद[7] ॥ ६ ॥
हों मतिमन्द विबोध[8] पुनि, लिपिशैली[9] अनजान ।
यातें सज्जन मम त्रुटिन, नहिं देवहिं निज ध्यान ॥ ७ ॥

समाप्तोऽय ग्रन्थ ।

१—श्रेष्ठ ध्यानरूपी अग्नि से । २—नष्ट । ३—हर्षाइयो । ४—कथन । ५—विनोद (प्रेम) के साथ । ६—कर्त्तव्य में तत्परता । ७—आनन्द । ८—बोध (ज्ञान) से रहित । ९—लेखनरीति ।

शुद्धि-पत्र

पृ० सं०	प० सं०	अशुद्धि	शुद्धि
३	३	म तव्यपस	मन्तव्य
३	१२-१३	शास्त्रशास्त्र	शास्त्र
८	२१	था	था
१५	१८	फदा	की
१७	१६	शारीरिकि	शारीरक
१७	२१	गार्हस्थधर्म	गार्हस्थ्यधर्म
१७	२४	गार्हस्थधर्म	गार्हस्थ्यधर्म
१८	११-१२	धर्म	धर्मे
२९	२२	चलित वृत्त	चलितवृत्त
२९	२३	शेप वृत्त	शेपवृत्त
३०	२	चलियवृत्त	चलितवृत्त
३७	१९	आन्तर	आन्तर्य
४३	२२	विकल्वों	विकल्पों
४७	१९	सर्वस्थ	सर्वस्व
४८	७	को	×
४८	१७	पथ्ययस्य	पथ्यस्य
८९	१०	ताम्रव	तीव्र
८९	२२	से से	से
९६	२१	महत्तय	महत्त्व
९७	१४	विवाव	विवाह
९८	१६	पला	पता
१०१	५	घड	गढ़
१०१	१९	सौमाग्य	सौभाग्य
१०१	२०	×	से
१०९	१४	याघा	याधा
१०९	१८	मूतपु	भूतेपु
११४	२०	पुरुपा	पुरुषा
१३४	१५	आच्छाद्गान	आच्छादन

शुद्धि-पत्र

पृ० सं०	पं० सं०	अशुद्धि	शुद्धि
१५[illegible]	९	चारित्र	चरित्र
१६१	२२	विगाध	विरोध
१७०	३	मनशीलन	मननशील
१८७	१८	ज्ञामा	ज्ञमा
१८८	५	दुःषम	दुःसह
१९०	११	यरित्याग	परित्याग
१९०	१८	घर्म	धर्म
१९२	६	गगे	रागे
१९२	९	पति	यति
१९२	२०	हम हम	हम
१९३	२२	पूर्वोक्ता	पूर्वोक्त
२०३	२६	वर्घमाना	वर्धमाना
२०९	१०	श्रमं	श्रम
२०९	१८	द्रव्यजित	द्रव्यजिन
२१४	१३	जा है	जाता है
२१९	९	छद्मस्थपन	छद्मस्थापन
२१९	१३-१४	छद्मस्थपन	छद्मस्थापन
२२०	२०	आचारङ्ग	आचाराङ्ग
२२६	२३	खपुष्य	खपुष्प
२३३	७	प्ररिग्रह	परिग्रह
२३४	८	चतुन्द्रिय	चतुरिन्द्रिय
२३९	२५	विराधक	विरोधक
२४३	५	वषा	वर्षा
२४४	३	तमस्तमः	तमस्तम
२४४	२३	प्ररिमाण	परिमाण
२४७	१४	होजता है	होजाता है
२५०	१९-२०	अयोग्यवस्था	अयोग्यावस्था
२५४	२३	सम्पक्त्व	सम्यक्त्व
२६२	६	विसुद्धिक	विशुद्धि